# हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव



हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद

# हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव

लेखक
पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी




हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-३

# भूमिका

'हिन्दी साहित्य पर फ़ारसी का प्रभाव' कलकत्ता विश्वविद्यालय की हिन्दी की एम०ए० परीक्षा का विषय था। परन्तु इस विषय पर कोई पुस्तक न थी, जिससे परीक्षकों और पाठकों सबको असुविधा होती थी। इसलिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत और हिन्दी के व्याख्याता महामहोपाध्याय पण्डित सकलनारायण शर्मा के आग्रह से यह पुस्तक लिखकर सं० १९८९ में गंगादशहरा के दिन पूरी कर दी गयी थी। परन्तु विश्वविद्यालय से इस रूप में पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकती, इसलिए अंग्रेज़ी में इसका रूपान्तर होना चाहिए। मित्रवर गणिताचार्य स्वर्गीय डॉ० गणेशप्रसाद एम०ए०, डी०एस-सी० के इस परामर्श के अनुसार इसका अंग्रेज़ी उल्था किया गया, जो पुस्तक-रूप में छपकर यूनिवर्सिटी से प्रकाशित हो चुकी है।

इस पुस्तक के लिखने में जिन सज्जनों के सुझावों और साहाय्यपूर्ण सम्मति के लिए लेखक कृतज्ञ है, वे हैं स्थानीय इस्लामिया कालेज के प्रोफेसर मौलाना ए०एफ०एम० अब्दुलक़ादिर साहब एम०ए० और स्थानीय आर्यसमाज के पं० अयोध्याप्रसाद बी०ए०। यदि मौलाना साहब की इस काम से इतनी दिलचस्पी न होती, तो पुस्तक विशेष लाभदायक न हो सकती।

पुस्तक तैयार करने में जिन ग्रन्थों से सहायता ली गयी है, उनकी नामावली अन्यत्र दी गयी है। परन्तु सबसे अधिक सहायता शम्सुल उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब 'आज़ाद' मरहूम की दो लासानी उर्दू किताबों 'आबेहयात' और 'सखुनदाने फ़ारस' तथा स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा की 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' से मिली है। अंग्रेज़ी संस्करण निकलने के कुछ ही दिन पहले पण्डित जी की पुस्तक देखने में आयी थी, इसलिए इसका विशेष उपयोग उसमें नहीं हो सका था। इस हिन्दी संस्करण में उससे बहुत-से अवतरण दिये गये हैं, जिनसे पाठकों को इस विषय का विशेष ज्ञान होने की आशा की जाती है।

यदि इससे पाठकों का कुछ भी उपकार होगा, तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

कलकत्ता

अनन्त चतुर्दशी — **अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी**

सं० १९९४

## दूसरे संस्करण की भूमिका

इस संस्करण में जो बातें बढ़ायी गयी हैं, उनमें कुछ का सम्बन्ध तो फ़ारसी और संस्कृत शब्दों के साम्य से है और कुछ का अरब में भारत के ज्ञान-विज्ञान के प्रचार से। और विषय प्रायः ज्यों-के-त्यों हैं।

लखनऊ
अक्षय तृतीया
सं० २००५

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

## तृतीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक में यह सिद्ध किया गया था कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा के दो रूप हैं। परन्तु देखा गया कि इधर फ़ारसी अक्षरों में लिखी हिन्दी व उर्दू को क्षेत्रीय भाषा स्वीकार कराने के लिए वह स्वतंत्र भाषा सिद्ध की जा रही है। इसलिए इस संस्करण में चोटी के कुछ मुसलमान विद्वानों के मत उद्धृत किये गये हैं, जिनमें हिन्दी और उर्दू के विषय में लोगों की नासमझी दूर हो सकेगी। ये अवतरण पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्न के उस लेख से लिये गये हैं, जो २५ नवम्बर, १९५६ के स्थानीय 'नवजीवन' के परिशिष्टांक में प्रकाशित हुआ है। शर्मा जी ने हिन्दी और उर्दू की कविता का तुलनात्मक अध्ययन किया है इसलिए उनके मत का महत्त्व है।

शर्मा जी ने सर विलियम केरी की सम्मति भी दी है। केरी साहब सीरामपुर के प्रसिद्ध मिशनरी विद्वान् १९वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने संस्कृत व्याकरण को ही अंग्रेज़ी में नहीं लिखा, पंजाबी, तेलुगु, कन्नड और बर्मी भाषाओं के व्याकरण भी १८२२ में प्रकाशित किये हैं। एक दूसरे अंग्रेज़ विद्वान् मि॰ जॉन बीम्स का मत भी हिन्दी-उर्दू की अभिन्नता के विषय में उद्धृत किया गया है। बीम्स साहब बंगाल के सिविलियन थे और उन्होंने १८७४ में A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages तीन जिल्दों में प्रकाशित किया था। इस व्याकरण में हिन्दी, सिन्धी, पंजाबी, बँगला, उड़िया, मराठी और गुजराती का तुलनात्मक विवेचन है।

लखनऊ
मि० पौष कृ० १४ रविवार सं० २०१३
ता० ३० दिसम्बर, १९५६ ई०

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

# विषय-सूची

# प्रस्तावना

प्राचीन काल में हिन्दुस्थान और ईरान दोनों में ज्ञान का आदान-प्रदान निरन्तर हुआ करता था। अरब के साथ भी हिन्द का सम्बन्ध था। अरब लोग वाणिज्य-व्यापार के लिए यहाँ आते-जाते थे और हमारे देश के माल का यूरोप और अफ्रीका आदि में प्रचार किया करते थे। यही नहीं, अरबों ने भारत से ज्योतिष, वैद्यक और अंकगणित शास्त्र सीखे थे और इसीलिए अंक व गिनती को आज भी मुसलमान 'हिन्दसा' ही कहते हैं। ख़लीफ़ा हारूँ रशीद के जमाने में हिन्दू पण्डित अरब-ईराक गये ही नहीं थे, बल्कि जेरूसेलम के हमीदिया पुस्तकालय में हारूँ रशीद के महामन्त्री फ़ज़ल बिन यहिया का मुहर लगा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर १२८ शेर लिखे हुए हैं, जिनमें भारतवर्ष, वेदों और आर्य ज्ञान-विज्ञान की बड़ी प्रशंसा की गयी है। हारूँ रशीद ने वैत-उल किताब (विद्या मन्दिर) नाम से अनुवाद विभाग स्थापित किया था और दार्शनिक ग्रन्थों का अनुवाद पारसी, ईसाई, यहूदी और हिन्दू अनुवादकों से कराया था। इसके उत्तराधिकारी मामूँ रशीद ने इस विभाग को बहुत उन्नत किया था। हज़रत मुहम्मद से ५०० वर्ष पहले के कवि जरहम बिन ताई की कविता में गीता के 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां' इत्यादि श्लोकों के आधार पर श्रीकृष्णावतार की चर्चा और प्रशंसा है। इसमें महादेवी की आराधना इष्ट फल देनेवाली बतायी गयी है।

इससे स्पष्ट है कि उस समय के अरबों को हिन्दू धर्म के विचारों का ज्ञान अवश्य था। इस्लाम के उदय के पहले अरब किस धर्म के अनुयायी थे, इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। कहा जाता है कि मक्के के काबा मन्दिर में ३६० मूर्तियाँ थीं, जिनमें हर दिन एक मूर्ति की विशेष पूजा होती थी। मुहम्मद साहब एकेश्वरवादी थे, इसलिए इन्होंने सब मूर्तियाँ मन्दिर से हटवा दीं। कदाचित् इन्हीं में से एक पत्थर रह गया था, जो अब तक बना हुआ है और 'संगे असवद' कहाता है। इसे प्रत्येक हाजी चूमता है। इसके सिवा हाजी काबे की परिक्रमा भी करते हैं। हज़ारों हाजी जब परिक्रमा के लिए दौड़ते हैं, तब बहुत-से ऊँट, जो रास्ते में पड़ते हैं, पिस जाते हैं।

बल्ख में मनोचहर का बनवाया नौबहार नाम का एक मन्दिर था, जिसके पुजारी बरमका कहाते थे। इस नौबहार के विषय में हिब्नुल फ़क़ीह हमादानी ने लिखा है, "यह बरमका का बनवाया हुआ मन्दिर था। उसका धर्म मूर्तियों की पूजा करना था। उनको मक्के और कुरैश के धर्म का जब पता लगा, तब उन्होंने भी यह उपासना मन्दिर बनवाया, जिसका नाम नौबहार हुआ। अरबों से भिन्न लोग यहाँ दर्शन करने आते थे। इसको (मूर्ति को) रेशम का कपड़ा पहनाया जाता था।..............मन्दिर के चारों ओर उसके पुजारियों के रहने के लिए ३६० कोठरियाँ थीं। साल के प्रत्येक दिन के लिए एक पुजारी रहता था और पुजारियों के प्रधान की उपाधि बरमका थी। इस बरमका शब्द का अर्थ होता है मक्के का द्वार और प्रधान पुजारी। इस प्रकार हर एक पुजारी की उपाधि बरमका होती थी। चीन और काबुल के बादशाह इसी धर्म के अनुयायी थे। जब वे लोग यहाँ आते थे, तब विशाल मूर्ति के सामने

नमस्कार करते थे। इससे काबे के मन्दिर का कुछ साम्य प्रतीत होता है और जान पड़ता है कि मक्के के ढंग पर यह मन्दिर बना था और जैसे कुरैश उसके पुजारी थे, वैसे बरमका इसके थे। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि काबे के मन्दिर और बल्ख के नौबहार मन्दिर में बुद्धदेव की पूजा होती थी। अरबी-फ़ारसी में मूर्ति के लिए जो बुत शब्द प्रचलित है, वह बुद्ध का ही अरबी रूप है। नौबहार नव विहार व नवीन बौद्ध मठ ही था।"

इससे जाना जाता है कि अरबों को हिन्दू और बौद्ध धर्मों का पता था और किसी समय अरब लोग बौद्ध मतावलम्बी थे। दूसरे लेखक कज़बीनी के लेख से जान पड़ता है कि फ़ारसवाले और तुर्क लोग भी दर्शन करने आते और चढ़ावा चढ़ाते थे।

हिन्द और अरब का इतना ही सम्बन्ध नहीं था। अरबी भाषा में हिन्दी के बहुत शब्द हैं और तो क्या कुरान में ही हिन्दी के तीन शब्द हैं मस्क (मुश्क), जंजबील (सोंठ) और काफ़ूर (कपूर)। हिन्दी के नाव सम्बन्धी शब्द भी अरबी में पाये जाते हैं। ये हैं बारजा, दोनीज, बलीज, जोश, कनेर और नाखूजा। इनके रूप अरबी के हैं, इसलिए पहचानना कठिन होता है। मौलाना नदवी ने इनकी पहचान निकाली है। बारजा को वे हिन्दी बेड़ा और दोनीज को डोंगी बताते हैं। बारजा शब्द ही उधर यूरोप में पहुँचकर बार्ज बन गया जान पड़ता है। भारत के समुद्री डाकू बारजों पर चढ़कर डाके डालते थे, इसलिए ये बवारिज कहलाने लगे। और भी, जहाज की छत के लिए बलीज, नाव के रस्से के लिए जोश और नारियल की रस्सी के लिए कनेर शब्द अरबी में प्रचलित हैं। पर हिन्दी या संस्कृत के अथवा प्राकृत वा सिंधी के किन शब्दों के ये रूपान्तर हैं इसका पता अब तक नहीं लग पाया। हाँ, नाखुजा, नाखुदा का अरबी रूप है। नाखुदा फारसी में नाव के मालिक क़ो कहते हैं; इसलिए नाखुदा में नाव हिन्दी शब्द और खुदा फ़ारसी है। कच्छ में नाखुदा को नाखवा भी कहते हैं। बम्बई में नाखुदा व्यापार करते हैं। सम्भव है पहले नौसंचालन का व्यापार करते-करते उसे त्यागकर साधारण व्यापार करने लगे हों। कलकत्ते में चीतपुर रोड पर जो बड़ी मस्ज़िद है वह भी नाखुदा मस्ज़िद कहलाती है। इब्नुल फ़क़ीह हमादानी ने सन् ३३० हिजरी में लिखा है कि हिन्द और सिन्ध को परमेश्वर ने यह विशेषता दी है कि वहाँ सब प्रकार के सुगन्ध द्रव्य, रत्न जैसे हीरा, लाल आदि, गैंडा, हाथी, मोर तथा अगर, लौंग, सम्बुल, कुलंजन, दालचीनी, नारियल, हड़, तूतिया, बक्कम, बेद, चन्दन, सागौन की लकड़ी और काली मिर्च पैदा होती है। यहाँ से जो कपड़े अरब लोग ले जाते थे, उनमें कर्फ़स (मलमल), शीत (छींट), बौतः (एकपटा) थे। कर्फ़स कर्पास का ही रूपान्तर जान पड़ता है। कर्पास हिन्दी कपास का संस्कृत रूप है। मलमल कर्फ़स का लाक्षणिक अर्थ है। फलों में मोज (मोचा-केले का फूल), नारलजी (नारियल), अम्बज (आम), लेमूं (निम्बू) जाते थे। यहूदियों की धर्म-पुस्तक तालमुद या तौरीत से जाना गया है कि ईसा से दो हजार वर्ष पहले अरब के जो व्यापारी अनेक बार मिस्र जाते हुए दिखायी दिये हैं, उनके पास बलसान (सुगन्धियुक्त फूल), सनोबर और दूसरे सुगन्ध द्रव्य थे। हिन्दू व्यापारी बनियाना और अरब व्यापारी ताजिर कहलाते थे।

अरब और भारत के सम्बन्ध दो प्रकार के थे। वे यहाँ से स्वदेश वा अन्य देशों में बेचने के

लिए माल ले जाते थे। यहाँ के पण्डितों को ज्ञानार्जन के लिए स्वदेश में बुलाते थे और इसी निमित्त यहाँ भी आते थे। कपड़े, चीनी, मिश्री, मसाले आदि यूरोप और अफ्रीका में भारत से अरब ही ले जाते थे। यूरोपवालों की दाढ़ में गोल मिर्च लग गयी थी। पर उसके लिए उन्हें अरब व्यापारियों का ही मुँह ताकना पड़ता था। उन्हें भारत का रास्ता मालूम न था। इसलिए यहाँ आने का प्रयत्न करके भी वे विफल हो जाते थे। ऐसे ही एक प्रयत्न में पोर्तगीज यात्री वास्को-डी-गामा को एक अरब मल्लाह इब्न माजिद ने नशे की हालत में हिन्दुस्तान पहुँचा दिया।

परन्तु अरबों ने भारत के व्यापार से जितना नहीं कमाया, उससे अधिक लाभ उन्होंने भारत के ज्ञान से उठाया। अवश्य ही अरबों ने मुहम्मद बिन क़ासिक की अध्यक्षता में सिन्ध पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया था; परन्तु इसी आक्रमण के प्रसंग में जब सन् ९६ हिजरी ईस्वी सन् ७२८ में वह सिन्ध के एक छोटे नगर में पहुँचा, तब उसे पता लगा कि वहाँ के निवासियों ने दो बौद्ध धर्मावलम्बियों को ईराक के शासक हज्जाज़ के पास भेजकर पहले ही उससे सन्धि कर ली है और उससे अभयदान ले चुके हैं। पहले इस्लाम के खलीफ़ा शाम की राजधानी दिमिश्क में रहते थे और अम्बिया खलीफ़ा थे। बाद को जब अब्बासी लोग इस्लाम के खलीफ़ा हुए, तब भारत की खाड़ी में हिन्दुओं और अरबों के मेल के लिए और भी सुभीते हो गये। सफ़्फ़ाह के दो-तीन वर्षों के शासन के बाद अब्बासी वंश का दूसरा खलीफ़ा सन् १३६ हिजरी में बादशाह हुआ। सन् १४६ हिजरी में बगदाद बसा और आठ वर्ष बाद हिन्द और अरब में नियमित रूप से विद्या-सम्बन्ध स्थापित हुआ।

अरबों में हिजरी सन् की पहली ही शती में दूसरी भाषाओं के शास्त्रों का उल्था करने का विचार हो चुका था। पर शाम में राजधानी रहने के कारण वहाँ यूनानी और सुरयानी (सीरियन) भाषाओं का ही बोलबाला था। पर जब ईराक में अब्बासी खिलाफ़त का तख्त बिछा, तब ईरानी और भारतीय भाषाओं को भी अपने जौहर दिखाने का अवसर मिला। जब खलीफ़ा मन्सूर के विद्या-प्रेम की चर्चा फैली, तब सन् १५४ हिजरी (७७१ ईस्वी) में एक बहुत बड़ा पण्डित गणित और सिद्धान्त के ग्रन्थ तथा कुछ और पण्डितों को साथ लेकर बगदाद पहुँचा और खलीफ़ा की आज्ञा से दरबार के एक गणितज्ञ इब्राहीम फ़िज़ारी की सहायता से उसने अरबी में सिद्धान्त का अनुवाद किया। पहले पहल इसी समय अरबों को भारत के गुणों का ज्ञान हुआ। अनन्तर हारूँ रशीद खलीफ़ा ने अपनी चिकित्सा के लिए भारत से एक वैद्य को बुलवाया जिसने भारत की विद्या की धाक जमा दी। फिर तो बरमका लोगों की संरक्षता में संस्कृत से आयुर्वेद, गणित और फलित ज्योतिष, साहित्य तथा नीतिग्रन्थों का अनुवाद अरबी में हुआ। भारत की विद्या के लिए अरबों में कितना अधिक आदर भाव उत्पन्न हुआ था इस विषय में मौलाना नदवी ने तीन अरब लेखकों के प्रमाण दिये हैं। इनमें पहला बसरे का निवासी जाहिज है जिसकी मृत्यु सन् २५५ हिजरी में हुई थी। इसने लिखा है, "हम देखते हैं कि भारतीय ज्योतिष और गणित में बहुत बढ़े हुए हैं और उनकी एक विशेष लिपि है। चिकित्साशास्त्र में भी वे आगे हैं और वे इसके कई विलक्षण भेद जानते हैं। उनके पास बड़े-बड़े रोगों की विशेष ओषधियाँ होती हैं। फिर मूर्तियाँ बनाने, रंगों से चित्र बनाने और भवन-निर्माण कला में वे बहुत चतुर हैं। शतरंज का खेल उन्हीं का निकाला हुआ

है जो बुद्धि और विचार का सबसे अच्छा खेल है। वे तलवारें बहुत अच्छी बनाते हैं और उनके चलाने के करतब जानते हैं। उनका संगीत भी बहुत मनोहर है। उनके एक साज का नाम 'कंकल:' है जो कद्दू पर एक तार को तानकर बनाते हैं और सितार के तारों और झाँझ का काम देता है। उनके यहाँ सब प्रकार का नाच भी है। उनके यहाँ अनेक प्रकार की लिपियाँ हैं। कविता का भंडार भी है। दर्शन, साहित्य और नीतिशास्त्र भी उनके पास हैं। उन्हीं के यहाँ से कलेला दमना (कर्कट और दमनक) नाम की किताब अर्थात् पंचतंत्र की कहानी हमारे पास आयी है। उनमें विचार और वीरता भी है और कई ऐसे गुण है जो चीनियों में भी नहीं हैं। उनमें स्वच्छता और पवित्रता के भी गुण हैं। सुन्दरताई, सुघड़ाई, लुनाई और सुगन्धि भी है। उन्हीं के देश से बादशाहों के पास वह ऊद (अगर की लकड़ी) आती है जिसकी उपमा नहीं है। विचार और चिंतन की विद्या भी उन्हीं के पास से आयी है। वे ऐसे मंत्र जानते हैं जिनके पढ़ देने से विष उतर जाता है। फिर गणित और ज्योति विद्याएँ भी उन्होंने निकाली हैं। उनकी स्त्रियों को गाना और पुरुषों को भोजन बनाना बहुत अच्छा आता है। सर्राफ़ और रुपये-पैसे के कारोबारी अपनी थैलियाँ और खज़ाना किसी और को नहीं सौंपते। (ईराक में) जितने सर्राफ़ हैं, सबके यहाँ खज़ानची खास सिन्धी होगा या किसी सिन्धी का लड़का होगा, क्योंकि उनके यहाँ हिसाब-किताब रखने और सर्राफ़ी का काम करने का स्वाभाविक गुण होता है। फिर ये लोग ईमानदार और स्वामिभक्त भी होते हैं।"

दूसरे लेखक का नाम याकूब्दी बताया गया है, जो लेखक ही नहीं, यात्री और पंडित भी था। कहते हैं कि यह हिन्दुस्थान आया भी था। सन् २७८ हिजरी के लगभग इसका देहान्त हुआ था। बहुत-कुछ कहकर इसने अन्त में लिखा है कि "हिन्दुस्तान के लोग बुद्धिमान् और विचारशील हैं और इस दृष्टि से वे सब जातियों से बढ़कर हैं। गणित और फलित ज्योतिष में उनकी बातें सबसे अधिक ठीक निकलती हैं। सिद्धान्त उन्हीं की विचारशीलता का परिणाम है, जिससे यूनानियों और ईरानियों ने लाभ उठाया है। चिकित्साशास्त्र में उनका निर्णय सबसे आगे है। इस विद्या पर इनकी पुस्तक चरक और निदान है। चिकित्साशास्त्र की उनकी और भी कई पुस्तकें हैं। तर्क और दर्शन में भी उनके रचे ग्रन्थ हैं।" तीसरा लेखक अबू ज़ैद सैराफ़ी है जो हिजरी तीसरी सदी के अन्त में था। इसने लिखा है, "भारत के विद्वान् ब्राह्मण कहलाते हैं। उनमें कवि भी हैं जो राजओं के दरबार में रहते हैं और ज्योतिषी, दार्शनिक, शकुन उठानेवाले और इन्द्रजाल जाननेवाले भी हैं। वे कन्नौज में बहुत हैं जो जौज़ के राज्य में एक बड़ा नगर है।"

ऊपर के वर्णन से संसार में भारतीय संस्कृति का क्या महत्त्व है यह स्पष्ट हो जाता है। मनुस्मृति में जब यह लिखा गया था कि [१]"इस देश में जन्मे बाह्मणों से पृथ्वी में सब मनुष्य अपने-अपने धर्म सीखें' तब उसके लेखक को अवश्य ज्ञान होगा, कि संसार के लोगों में ज्ञान-विज्ञान के प्रचार में भारतीय विद्या और विद्वानों ने क्या काम किया था। पाश्चात्य जगत् में प्रसिद्धि ग्रीस वा यूनान की अधिक है। पर ग्रीस को ज्ञान किसने दिया? पाश्चात्यों के अनुसार उसका गुरु मिस्र या ईजिप्ट है। इसलिए पाश्चात्य

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

मतानुसार मिस्र ही संस्कृति का स्रोत है। परन्तु यह बात नहीं है। मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद मरहूम ने अपने 'सखुनदाने फ़ारस' में लिखा है, "देखो, हिन्द ने या फ़ारस ने अपने इल्म का सरमाया मिस्र को दिया। मिस्र ने दानों से लेकर यूनान को दिया। यूनान ने रूमिया को दिया। रूमिया, यूनान व फ़ारस ने अरब को दिया और फिर अरब से तमाम यूरोप और एशिया में फैला।" मौलाना आज़ाद इसका निश्चय नहीं कर सके कि हिन्द ने अपने इल्म का सरमाया मिस्र को दिया या फ़ारस ने। परन्तु अरब को तो भारत ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से ज्ञान दिया, जिसे मौलाना नदवी ने स्वीकार किया है। संस्कृत और फ़ारसी में अथवा वेदभाषा और ज़ेन्द में जो निकटता है, उससे भारत और ईरान की घनिष्ठता स्वयंसिद्ध है। ईरान को आर्यावर्त्त का ही एक भाग समझना चाहिए।

मद्रास के समुद्र-तट पर ट्रावनकोर राज्य तथा कालीकट के सामुरिया-ज़मोरिन के राज्य में अरब व्यापारी आते और निर्भय होकर रहते और व्यापार करते थे। हिन्दू राजाओं का उनके साथ बहुत शिष्ट व्यवहार था। परन्तु इस्लाम के अभ्युत्थान के बाद से अरबों में लड़ाकी वृत्ति काम करने लगी थी। अरबों की इच्छा भारत पर चढ़ाई करने की हुई, परन्तु बहुत दिनों तक उन्हें कोई बहाना न मिलने से चुपचाप मन मसोसकर रह जाना पड़ा। अन्त को एक बहाना मिल ही गया। दक्षिण भारत से कुछ अरब स्त्रियाँ जा रही थीं। इन्हें सिन्ध के पास जल-दस्युओं ने लूट लिया। उस समय इस्लाम के खलीफ़ा शाम की राजधानी दिमिश्क में रहते थे। खलीफ़ा ने सिन्ध के राजा दाहिर को इस कृत्य का उत्तरदाता ठहराकर सिन्ध पर चढ़ाई करने का हुक्म अपने सरदार मुहम्मद बिन क़ासिम को दे दिया। इसने देवल बन्दर पर ७१२ ईस्वी में चढ़ाई कर उसे लूट लिया और लोगों को क़त्ल किया। लड़ाई में सिन्ध का राजा दाहिर भी मारा गया। दाहिर का लड़का मैदान से भाग गया, पर उसकी रानी ने अच्छी तरह मोर्चा लिया। अन्त में लड़ती-लड़ती वह भी मर गयी। सिन्ध पर अरबों का अधिकार हो गया, परन्तु सिन्ध में मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक हो जाने और सिन्धी भाषा की लिपि अरबी बन जाने के सिवा सिन्ध पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

ईरान या फ़ारस में भी आर्य पण्डित जाया करते थे। शाह गस्तास्प के समय यहाँ से व्यास जी गये थे और इनसे मिलने को शाह ने वहाँ के विद्वान् दार्शनिक ज़रतुस्त (ज़ोरोऐस्टर) को बुलाया था। उस समय के बाद ईरान में सैकड़ों वर्षों पर फिर एक हिन्दू रवीन्द्रनाथ ठाकुर निमन्त्रित किया गया। सरकार और प्रजा द्वारा उसका आदर-सत्कार हुआ। यद्यपि भारत पर ईरानियों का राज्य कभी नहीं हुआ, तथापि ईरानी संस्कृति और भाषा का राज्य अवश्य ही यहाँ सैकड़ों वर्षों रहा और किन्हीं बातों में तो आज भी है। ईरानियों के दो आक्रमण मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में हिन्दुस्थान पर हुए थे। परन्तु नादिरशाह का आक्रमण उसकी क्रूरता और राक्षसी वृत्ति के कारण ही प्रसिद्ध है और अहमदशाह दुर्रानी मराठों को पानीपत में हराकर भी भारत पर अपनी विजय दृढ़ न कर सका। और तो क्या, भारत पर यह पश्चिमी आक्रमणकारियों का अन्तिम आक्रमण था।

जिन मुसलमानों ने भारत को पादाक्रान्त कर सैकड़ों वर्षों तक राज्य किया, वे अरब या ईरानी न थे। उनमें तुर्क, पठान, मुग़ल आदि थे। संसार के बहुत बड़े भाग विशेषकर एशिया में बौद्ध मत बहुत फैला हुआ था। मंगोलिया की जिस मंगोल जाति का बहुत समय तक चीन पर शासन रहा और आगे

चलकर जो भारत में आकर मुग़ल कहलायी, वह बौद्ध मत की ही अनुगत थी। खुरासान के बल्ख शहर के नवविहार की चर्चा हो ही चुकी है। हिन्दुस्थान पर सबसे पहले जिन तुर्कों ने अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से चढ़ाई की थी, हमारी भाषा पर वे अपना कोई प्रभाव नहीं छोड़ गये थे। अवश्य ही कुछ तुर्की शब्द ही हमारी भाषा में आ मिले और आश्चर्य नहीं कि इन तुर्कों के कारण ही हमारी भाषा में मुसलमानों के लिए तुर्क या तुरुक शब्द का प्रयोग होने लगा हो।[१] पर ऐसे शब्द और भाषाओं में भी हैं।

सन् ९७७ ईस्वी में तुर्क अलप्तगीन के गुलाम सुबुक्तगीन ने ग़ज़नी पर अधिकार जमाया और अपने को अमीर प्रसिद्ध किया। यह बड़ा उच्चाकांक्षी था। इससे इसने सन् ९८६ में पंजाब पर धावा बोल दिया। बाद को इसके बेटे महमूद ने भारत पर सत्रह बार चढ़ाइयाँ कीं और देश को अच्छी तरह लूट-पाटकर लोगों के साथ अत्यन्त क्रूरता का व्यवहार किया। इन आक्रमणों में बड़ा विद्वान् मुहम्मद-बिन-अलबेरूनी भी साथ था, जिसने स्वयं भारत और भारतवासियों का ज्ञान प्राप्त किया; उनकी भाषा और संस्कृति का अध्ययन और मनन किया और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'किताबं-उल-हिन्द' में हिन्दू जीवन और साहित्य के विविध रूपों की अधिकारपूर्वक चर्चा की। ये पुराने आक्रमणकारी जो भाषा बोलते थे वह निःसन्देह तुर्की थी, पर ये फ़ारसी के पैरोकार थे और शायद इसी भाषा में शासन-कार्य चलाते थे। जान पड़ता है कि महमूद की तारीफ़ में मशहूर शाइर फ़िर्दोसी ने 'शाहनामा' नामक जो काव्य रचा था, वह इसी कारण फ़ारसी में था। इसका कारण यह जान पड़ता है कि ईरान का साम्राज्य बड़े विस्तृत भूभाग पर था और मध्य एशिया तक फैला था। इस साम्राज्य की भाषा फ़ारसी थी।

जब किसी देश में दो संस्कृतियों का संघर्ष होता है, तब एक के रीति-रिवाज, चाल-ढाल, रहन-सहन, संगीत, साहित्य, कला, वेश-भूषा आदि का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता। साधारणतः पराजित और शासित ही अपने को हीन और शासकों को श्रेष्ठ समझकर शासक जाति के समकक्ष बनने के अभिप्राय से प्रत्येक बात में उसका अनुकरण करते हैं। परन्तु ऐसा भी कभी-कभी देखा गया है कि शासकों ने भी शासितों की नकल कई बातों में की है। इस देश में आर्य और अनार्य संस्कृतियों की मोर्चेबन्दी के बाद जब आर्य संस्कृति ने अनार्य संस्कृतियों पर विजय पायी, तब स्वभावतः अनार्यों ने आर्य संस्कृति स्वीकार कर ली और बड़े बनने की इच्छा से अनार्यों के बहुजन-समाज की प्रवृत्ति आर्य रीति-नीति की ओर हुई। परन्तु कालान्तर में जब आर्य लोग अपनी प्रभुता स्थापित हो जाने के कारण निश्चिन्त हो गये, तब अनार्यों द्वारा अनार्य भाव धीरे-धीरे आर्य जनता में प्रवेश करने लगा। अथवा यह भी सम्भव है कि अनार्यों का परतंत्रता का बोझ कुछ हल्का करने की नीयत से आर्य लोगों ने स्वतः अनार्यों की कितनी ही बातें मान ली हों, जिसमें दोनों नीर-क्षीर की तरह मिल जायँ।

यह प्रसिद्ध है कि वैदिक आर्यों में जात-पाँत का बखेड़ा और मन्दिर-मूर्तियों का प्रचार न था। उनमें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी और वे इन्द्र, चन्द्र, वरुण, सविता आदि देवताओं की यज्ञों द्वारा उपासना किया करते थे। परन्तु अनार्यों के संसर्ग से उनमें देव-मन्दिर और मूर्तियाँ आयीं और चार वर्णों के

१. "हिन्दू तुर्कन भई लराई।" (पद्मावत) "हिन्दू तुरुक दीन द्वै गाये" (छत्रप्रकाश) "हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुर्कहिं न पियावहिं" (नरहरि कवि)।

बदले सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बन गयीं। अनार्यों में बहुत-सी जातियाँ थीं, इसलिए अनार्यों से आर्यों में जाति-संस्था का आना आश्चर्यजनक नहीं है। यह केवल कल्पना नहीं है। मनुस्मृति में आठ प्रकार के जो विवाह माने गये हैं, उनमें आसुर और राक्षस विवाहों का अस्तित्व यही सिद्ध करता है।[१]

परन्तु बहुधा पराजित और शासित ही विजेताओं और शासकों की संस्कृति अपनाते आये हैं, क्योंकि ये अपने को हीन और उन्हें श्रेष्ठ समझते हैं। इसलिए बहुत-से अनार्य आर्य बन गये। मुसलमानी अमलदारी में भी कितने ही हिन्दू मुसलमान बन गये और जो मुसलमान नहीं हुए, वे ऊपर से पोशाक आदि में मुसलमान बनने में लाभ समझने लगे। जैसे अंग्रेज़ी पोशाक पहनकर लोग ऐसी बहुत-सी जगहों में चले जाते थे और ऐसे स्थानों पर बैठ सकते थे, जहाँ देशी पहनावे की गुज़र नहीं थी, वैसे ही मुसलमानी अमलदारी में भी लोग मुसलमानों की नकल इस चतुराई से करते थे कि कहीं भेद न खुल जाय। इसलिए कोई-कोई तो अपनी माँ से पूछ भी लिया करते थे कि "अम्माँ! मैं हिन्दू तो नहीं जान पड़ता?" लखनऊ में नवाबी अमलदारी में मुहर्रम के दिनों में कोई आदमी हरे रंग के कपड़े पहने बिना बड़े इमामबाड़े में नहीं जा सकता था और बुजुर्गों से सुना गया है कि वहाँ जाने के लिए वे अपनी मिर्ज़ई और टोपी हरी रंग लिया करते थे।

शिहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी, क़ुतुबुद्दीन ऐबक नामक अपने गुलाम को अपने अधीन भारत का शासक बनाकर चला गया था। यही पहला मुसलमान बादशाह हुआ। यह तथा और भी मुसलमान आक्रमणकारी अफ़ग़ानिस्तान से ही हिन्दुस्थान आये थे। इन सबकी भाषा तो तुर्की थी, पर ये फ़ारसी बोलते और उसी में अपना सब व्यवहार चलाते थे। इस प्रकार हिन्दुस्थान के बादशाहों और नवाबों की भाषा फ़ारसी होने के कारण हमारी भाषा हिन्दी पर फ़ारसी का ही प्रभाव विशेष पड़ा, जिसका हमें इस पुस्तक में विचार करना है। यह दूसरी बात है कि फ़ारसी पर अरबी का काफ़ी असर हो चुका था।

●

---

१. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।२१।।

# हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव

## संस्कृत और फ़ारसी

इस देश की प्राचीन भाषा साधारण लोगों में संस्कृत नाम से प्रसिद्ध है। आधुनिक भाषाओं की तुलना में वह प्राचीन अवश्य है, तथापि उससे प्राचीनतर एक भाषा थी, जो वैदिक भाषा या वेदभाषा कहलाती है। इसी प्रकार वर्त्तमान-फ़ारसी से भी प्राचीनतर भाषा पहलवी नाम से प्रख्यात थी। पर इससे भी प्राचीनतर भाषा को विद्वानों ने 'ज़ेन्द'[१] नाम दिया है, जो पारसियों के धर्म-ग्रन्थ अवस्ता की भाषा है। वेदभाषा और ज़ेन्दभाषा में बहुत अधिक साम्य है और ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों सगी बहनें-सी हैं। इसलिए इनकी भी किसी माता का अनुमान आप-ही-आप होने लगता है। ज़ेन्द की वर्णमाला संस्कृत-सी ही है और उसमें १३ स्वर हैं।

फ़ारस का पुराना नाम ईरान है। यहाँ पहले ज़रतुस्त या ज़ोरोऐस्टर का धर्म प्रचलित था। परन्तु जब अरबों ने ईरान पर चढ़ाई की और ईरानियों को हराकर अपना दीने इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, तब जिन्हें कोई और उपाय न सूझा वे मुसलमान बन गये। परन्तु जिन्हें अपने पुराने धर्म से प्रेम था, उन्होंने घर-बार छोड़ और सम्मान-सम्पत्ति से मुँह मोड़ गुजरात के एक हिन्दू नरेश की शरण ली, जिसने उन्हें नवसारी और उसके आसपास रहने की अनुमति दे दी। जो ईरानी ईरान में रह गये और जिन्होंने अपने प्राणों और सम्पत्ति की रक्षा करना उचित समझा, वे मुसलमान हो गये। जो हिन्दुस्थान चले आये, वे पारस देश से आने के कारण पारसी कहलाने लगे। फ़ारस को पारस भी कहते हैं, इसलिए अब तक उस देश से इनका सम्बन्ध लगा हुआ है। चूँकि पारसी और आर्य अपने-अपने ढंग के अग्नि-पूजक हैं, इससे वैदिक आर्यों से इनका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। गुजरात में रहने के कारण इन्होंने गुजरातियों की भाषा, पहनावा और अल्लें वा उपाधियाँ तक अपना ली हैं यथा शाह, पारख,

---

१. किसी-किसी का मत है कि 'ज़ेन्द' छन्द शब्द का अपभ्रष्ट रूप है और चूँकि पुरुषसूक्तादि में अथर्ववेद को 'छन्दांसि' कहा है, इसलिए ज़ेन्द वैदिक भाषा का ही नामान्तर है। परन्तु प्राचीन काल में वैदिक भाषा को छन्द और लोक-भाषा को संस्कृत भाषा कहते थे।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।
—पुरुषसूक्त

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह।
—अथर्व० ११।७।२४

मेहता, सेठ इत्यादि। इनकी पकड़ी गुज़राती पगड़ी ही होती थी। अब लोग एक तरह की फ़ेल्ट पगड़ी पहनने लगे हैं, पर पुराने लोग गुजराती पगड़ी ही पहनते थे। दादा भाई नवरोज़ी, सर फ़ीरोज़शाह मेहता, सर दीनशाह वाचा, सर जीवनजी मोदी प्रभृति पारसी सज्जनों के सिरों पर गुजराती पगड़ी विराजमान थी। पूर्व पुरुषों की जन्मभूमि से प्रेम के कारण कुछ लोग फ़ारसी पढ़ते भी हैं। इनकी भाषा में फ़ारसी शब्द अधिक होते हैं।

पहलवी भाषा पुरानी ईरानी या फ़ारसी को कहते हैं; परन्तु वास्तव में यह पश्चिमी ईरानी की भाषा ३री ईस्वी शताब्दी में थी। पहलव देश पश्चिमी ईरान ही है। वर्त्तमान शाहे ईरान भी पहलवी ही हैं। पहलवी से वर्त्तमान साहित्यिक और बोलचाल की फ़ारसी भाषा की उत्पत्ति मानी जाती है। परन्तु फ़ारसी शाइरों ने कभी-कभी फ़ारसी के लिए भी पहलवी शब्द का प्रयोग किया है। सुप्रसिद्ध मौलाना जामी कहते हैं–

मौलवीए मस्नवीए मानवी।
हस्त क़ुरआँ दरज़ुबाने पहलवी।।
मन चि गोयम् वस्फ़ आँ आली जनाब।
नेस्त पैग़म्बर वले दारद कि ताब।।

अर्थात्–मौलाना रूम की जो मसनवी है, वह फ़ारसी भाषा में क़ुरान है। मैं आली जनाब की क्या तारीफ़ करूँ ? वे पैग़म्बर न थे, पर पैग़म्बर जैसी ताक़त रखते थे।

पहलव लोगों की चर्चा मनुस्मृति ने व्रात्य क्षत्रियों में की है। दसवें अध्याय में ये दो श्लोक हैं–

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्त्वं गता लोके ब्राह्मणार्शनेन च।।४३।।
पौंड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः काम्बोजयवनाः शकाः
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः।।४४।।

अर्थात्–पौंड्र, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीन, किरात, दरद और खश–ये क्षत्रिय जातियाँ क्रिया के लोप करने और ब्राह्मणों के अदर्शन के कारण वृषलत्व को प्राप्त हुई। इससे पह्लव व्रात्य क्षत्रिय ठहरते हैं। भारत के व्रात्य क्षत्रियों ने प्राकृत भाषा और विशेषतः उसके संस्कृत रूप पालि की बड़ी उन्नति की है।

मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने 'सखुनदाने फ़ारस' में यह सुझाया है कि पह्लव यहाँ से किसी प्रकार की प्राकृत ईरान अपने साथ ले गये होंगे जो आज पहलवी कहलाती है। ईरान का दक्षिण-पश्चिम प्रदेश फ़ारस कहलाता था और समग्र देश पर इसका प्रभुत्व होने के कारण ईरान फ़ारस और ईरान की भाषा फ़ारसी कहलाने लगी।

●

## अरबी और फ़ारसी

फ़ारसी संस्कृत से मिलती-जुलती है, इसलिए भाषाओं के वर्गीकरण में वह आर्यभाषा मानी जाती है। परन्तु उस पर अरबी का बड़ा प्रभाव है, क्योंकि अरबों ने ईरान को पादाक्रान्त करके ईरानियों को मुसलमान बनाया था और अपनी लिपि उन्हें दी थी। इसके पहले ईरानी लोग कौन-सी लिपि काम में लाते थे यह तो हम नहीं जानते। परन्तु कहते हैं कि पहलवी एक प्रकार की सेमेटिक लिपि में लिखी जाती थी, इसीलिए फ़ारसी के लिए अरबी लिपि का सुधरा रूप स्वीकार करने में ईरानियों को कोई आगा-पीछा नहीं हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं है।

जैसे संस्कृत, फ़ारसी आदि आर्यभाषाएँ हैं, वैसे ही अरबी, हिब्रू (इब्रानी), असीरियन (आसुरी), फिनिशियन (पणि), हब्शी आदि भाषाएँ सेमेटिक कहलाती हैं। शाम सीरिया का पुराना नाम है, इसलिए वहाँ के लोग सेमाइट और वहाँ से सम्बन्ध रखनेवाली भाषा सेमेटिक कहाती है अथवा सेमेटिक जाति के आदि पुरुष सेम के नाम पर असुर, यहूदी, पणि, अरब और हब्शी आदि सेमेटिक कहलाते हैं यह विचारणीय है। पर जाति की व्यापकता की दृष्टि से दूसरा कारण ही समीचीन जान पड़ता है। इनमें अरबी और यहूदियों की भाषा इब्रानी का फ़ारसी पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। और तो क्या इस प्रभाव के कारण ही भीतर से आर्यभाषा होने पर भी आज फ़ारसी देखने में अनार्य अथवा सेमेटिक भाषा जान पड़ती है। जैसे किसी हिन्दू को झब्बेदार यूनानी फ़ेज़ टोपी (जो भ्रमवश तुर्की कहलाती है) पहने देखकर लोग मुसलमान समझ लेते हैं, वैसे ही फ़ारसी को अरबी लिबास में देख अल्पज्ञ लोग सेमेटिक मान बैठते हैं।[१] परन्तु फ़ारसी सेमेटिक भाषा नहीं है और अरबी, इब्रानी, तूरानी, तुर्की, तातारी आदि अनेक भाषाओं के शब्द उसमें मिलने पर भी उसका हृदय आज भी आर्य बना हुआ है।

## संस्कृत और फ़ारसी शब्द-साम्य

ज़ेन्द और वेद-भाषा में साम्य नहीं है, वर्त्तमान फ़ारसी से संस्कृत का भी है, जैसा नीचे के शब्दों के मिलाने से जाना जायगा-

| संस्कृत | फ़ारसी | संस्कृत | फ़ारसी |
|---|---|---|---|
| पितृ, पितर् | पिदर | महत्तर | मिहत्तर |
| मातृ, मातर् | मादर | अस्ति | अस्त |
| भ्रातृ, भ्रातर् | बिरादर | गो | गाव |

१. कई वर्ष हुए श्रीमती सरोजिनी नायडू के लड़के को इसी तरह की टोपी पहने देखकर समाचार-पत्रों ने छाप दिया था कि वह मुसलमान हो गया। परन्तु हैदराबाद में हिन्दू भी ऐसी टोपी पहनते हैं और स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल भी पहले पहना करते थे। १९१८ में सय्यद हसन इमाम की अध्यक्षता में बम्बई में जो स्पेशल कांग्रेस हुई थी, विट्ठलभाई उसके स्वागताध्यक्ष थे। उन दिनों वे फेज ही पहनते थे और लम्बी दाढ़ी भी थी, इससे पक्के मुसलमान जान पड़ते थे।

| संस्कृत | फ़ारसी | संस्कृत | फ़ारसी |
|---|---|---|---|
| दुहितृ, दुहितर् | दुख़्तर | आप | आब |
| स्वसृ | ख़्वाहिर | अभ्र | अब्र |
| तनु | तन | पुष्ट | पुख़्त: |
| श्वशुर | ख़ुसुर | अश्व | अस्प |
| पृष्ठ | पुश्त | शर्करा | शकर |
| नप्तृ | नबीर | जीरक | ज़ीरा |
| हस्त | दस्त | वर्षा | बारिश |
| बाहु | बाज़ू | जामातृ, जामाता | दामाद |
| पाद् | पा, पाव | तृष्णा | तिश्ना |
| गोधूम | गन्दुम | द्वार | दर |
| शाली | साली | शरत् | सर्द |
| तारा | तारा | उष्ट्र | उश्तुर, शुतुर |
| पञ्च | पञ्ज | वात | बाद |
| चत्वार | चहार | भ्रू | अब्रू |
| षट्, षष् | शश | चर्म | चरम |
| सप्त | हफ़्त | सायं | शाम |
| अष्ट | हश्त | वर्षार्तु | बरसात |
| नव | नौ | क्षीर | शीर |
| दश | दह | मेघ | मेग़ |
| शत | सद | मर्दति | मसद |
| घर्म | गर्म | अलक्षित | लेसद |
| हर्म | हरम | मृत | मुर्दा |
| चक्षु | चश्म | शक्त | सख़्त |
| चक्र | चर्ख़ | कुक्षि | किश |
| क्षपा | शब | प्रमाण | फ़र्मान |
| अहिफेन | अफयून | प्रसाद | फ़रशाद |
| सर्षप | सरशुफ | जलौका | जलूक |
| आपत् | आफ़त | दन्त | दन्त, दन्दाँ |
| कर्पूर | काफूर | केशसू | गेसू |
| मुष्टि | मुश्त | सूर, सूर्य | हूर, ख़ूर |

| संस्कृत | फ़ारसी | संस्कृत | फ़ारसी |
|---|---|---|---|
| शृगाल | शग़ाल | अस्ति | हस्त |
| भूत | बूद | अददम् | दादम |
| पतति | फ़तद | स्तौति | सतायद |
| बध्नाति | बन्दद | वात | बाद |
| भवामि | बूदम | भवति | बुवद |
| जायते | ज़ायद | आयाति | आयद |
| पचति | पज़द | जीवति | ज़ीद |
| सरति | रसद | तपति | तबद |
| करोति | कुनद | धावति, दावति | दावद |
| गदति | गोयद | क्रीत | ख़रीद |
| तनोति | तनद | सृजति | सरेशद |
| शृणोति | शिनूद | ददाति | दिहद |
| दत्त | दिहद | अश्ववार | सवार |

जैसे संस्कृत से प्राकृत शब्द बनाने के नियम प्राकृत व्याकरणों में लिखे हुए हैं, वैसे ही विद्वानों ने संस्कृत शब्द को फ़ारसी रूप देने के नियम भी रचे हैं। एक नियम है कि संस्कृत शब्द के आकार का लोप कर देने से फ़ारसी शब्द बन जाता है—

| संस्कृत | फ़ारसी | अर्थ |
|---|---|---|
| विस्तार | बिस्तर[1] | बिछौना |
| त्रास | त्रस | डर |
| महा | मह | बुज़ुर्ग |
| जलौका | ज़लूक, ज़लू | जोंक |
| शाखा | शाख | डाल |

कई प्राकृत नियमों से भी संस्कृत से फ़ारसी शब्द बनते हैं। नीचे के शब्दों में ह्रस्व स्वर दीर्घ हो गया है; जैसे—

| संस्कृत | फ़ारसी | अर्थ |
|---|---|---|
| प्र | पार | गत |
| पुत्र | पूर | बेटा |
| कर्पूर | काफ़ूर | कपूर |

प्राकृत के 'पो वः'—सूत्र की झलक इन शब्दों में दिखायी देती है—

---

१. बिस्तर का बिष्टर शब्द से बनना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

| संस्कृत | फ़ारसी | अर्थ |
|---|---|---|
| क्षपा | शब | रात |
| कपोतः | कबूतर | |
| कर्पास | करपास | कपास |
| अप, आप | आब | पानी |
| तपस, तपस्या | तबास | तपस्या |

'स' प्रकृत में 'ह' हो जाता है। पर हिन्दी में कभी फारसी का 'ह' 'स' हो जाता है, जैसे मेहतर मेस्तर। यह शब्द पूर्व के अनपढ़ लोगों का गढ़ा है।

'पो वः' के बदले 'वो पः' सूत्र का प्रयोग भी फ़ारसी में देखा जाता है; जैसे, संस्कृत अश्व फ़ारसी में अस्प हो गया है। फ़ारसी के जो शब्द प या फ से आरम्भ होते हैं, वे फ या प से बहुधा बदले जाते हैं; जैसे, पारस फ़ारस, पील फ़ील।

संस्कृत शब्द का प फ़ारसी में ब हो जाता; जैसे 'वप्र' से ज़ेन्द में बाप और फ़ारसी में बाब बना और प्यार का प्रत्यय आ लगाकर बाबा शब्द बना लिया गया।

प्राकृत प्रकाश के 'कगचपयवां प्रायो लोपः' सूत्र के अनुसार 'प' का लोप भी हो जाता है; जैसे संस्कृत वापी फ़ारसी में वाई बन गया जिसका अर्थ बावली होता है।

संस्कृत शब्द का अंश ष्ट फ़ारसी में सदा श्त हो जाता है; जैसे,

| संस्कृत | फ़ारसी | अर्थ |
|---|---|---|
| अङ्गुष्ट | अंगुश्त | उँगली |
| उष्ट्र | उशतर, शुतर | ऊँट |
| मुष्टि | मुश्त | मूठ |
| दुष्ट | दुस्त | दुष्ट |
| सृष्टि | सरश्त | संसार |

संस्कृत का अंगुष्ट शब्द तो अँगूठे का वाचक है, परन्तु फ़ारसी में अरबों की कृपा से उँगलियों के नामों का लोप हो अँगूठे तथा उँगलियों सबके लिए एकमात्र शब्द अंगुश्त रह गया; जैसे, 'खुदा पंज अंगुश्त यकसां न कर्द।'

कितने ही और शब्द भी हैं, जिनके अर्थों में संस्कृत से फ़ारसी में भिन्नता आ गयी है। जैसे, मेघ बादल है, पर फ़ारसी मेह वर्षा है।

फ़ारसी का ख़े अक्षर संस्कृत के क, ख, श और ह अक्षरों से बदला जाता है; जैसे,

| संस्कृत | फ़ारसी | अर्थ |
|---|---|---|
| कुशा | खासा, खाशा | घास |
| खर | ख़र | गधा |
| स्वसृ | ख्वाहिर | बहन |
| सु | ख़ुश | अच्छा |
| स्वतः | ख़ुद | आप |

| संस्कृत | फ़ारसी | अर्थ |
|---|---|---|
| स्वेद | ख्वे | पसीना |
| शुभ | ख़ुब | अच्छा |
| शूकर | ख़ुक | सुअर |
| शोण<br>शोणित | खून | रक्त |
| श्वशुर | खुसुर | ससुर |
| स्वप्न | ख्वाब | सपना |
| सूर | ख़ूर, हूर | सूरज |
| चक्र | चर्ख़ | पहिया |
| शक्त | सख़्त | कड़ा |
| कुम्भ | ख़ुम, खुम्ब | घड़ा |
| खस | खश | खश |
| स्वधा | ख़ुदा | |
| दुहितर् | दुख़्तर | बेटी |
| आह्वान | ख्वान, ख्वान्दन | पुकार |
| आहूत | ख्वाहिद | बुलाया गया |
| क्रम | ख़राम | रफ़्तार-नाज़ |

काफ, हे, सीन, शीन का ख़े में परिवर्तन संस्कृत शब्दों में ही नहीं, फ़ारसी शब्दों में भी होता है; जैसे,

| संस्कृत | फ़ारसी | |
|---|---|---|
| शिनाख़्त | शिनासद | |
| अफ़राख़्तन | फ़राशीदंन | (रोंगटे खड़े होना) |
| ख़मान | कमान | |
| ख़नन्द | कमन्द | |
| खाका | हाग | (अंडा) |

संस्कृत तकारवाले शब्द प्राकृत में ही दकारान्त नहीं हो जाते, फ़ारसी में भी हो जाते हैं; जैसे–

| संस्कृत | फ़ारसी | |
|---|---|---|
| जात | ज़ाद | |
| अत्र | ईदर | |
| वाताम | बादाम | |
| वात | बाद | |
| वितस्ति | बदस्त | (बालिश्त) |

| संस्कृत | फ़ारसी | |
|---|---|---|
| मातृ, मातर् | मादर | |
| मृत | मुर्दा | |
| वेत्र, वेत | बेद | |
| पितृ, पितर् | पिदर | |
| दन्त | दन्द | |
| शरत् | सर्द | |
| शत | सद | |
| जामातृ, जामाता | दामाद | |
| ब्यूति | पूद | (बाना बुनना) |

कई संस्कृत शब्दों का द हिन्दी में ज हो जाता है, जैसे वैद्यनाथ बैजनाथ, गदाधर गजाधर इत्यादि। इसी प्रकार संस्कृत का अजगर फ़ारसी में अजदर हो जाता है।

यह विषय बड़ा भारी है, इसलिए इतने ही से समाप्त किया जाता है।



# सीमान्त देशों की भाषाएँ

यों तो अफ़ग़ानिस्तान और भारत के बीच के भूभाग की ही नहीं, ख़ास अफ़ग़ानिस्तान की भाषा पश्तो या पख्तो और इसी से मिलती-जुलती भाषाएँ हैं। परन्तु अफ़ग़ानिस्तान के रईसों और प्रतिष्ठित पुरुषों की भाषा फ़ारसी ही है। पश्तो अफ़ग़ानों की और बिलोची बिलोचियों की बोली है। इसी तरह चित्राल, काफ़िरस्तान, आदि की बोलियाँ कुछ-कुछ भिन्न हैं। परन्तु इन सभी भाषाओं वा बोलियों का उद्गम पुरानी संस्कृत-फ़ारसी से वैसे ही हुआ है, जैसे आधुनिक आर्यभाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। भाषाओं के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि अरबी तो इल्म (शास्त्र) वा विज्ञान की भाषा है और तुर्की शूरता की है तथा फ़ारसी शीरीं जुबान (मधुर भाषा) है। परन्तु पश्तो के विषय में लोगों का वही भाव है, जो तमिल के विषय में उत्तर भारत के निवासियों का है अर्थात् किसी हाँड़ी में कंकड़ भरकर बजाने से जो समझ पड़ता है, वही पश्तो सुनने से जान पड़ता है। इसमें तमिल वा पश्तो का दोष नहीं है। यह उसके न जानने का कारण है।

## १-हिन्दी और प्राकृत

भारत वा भारतवर्ष का दूसरा नाम हिन्द है और इसी से हमारे पड़ोसी ईरानी और अरब हमें जानते-पहचानते आते हैं। सिन्धु वा सिन्ध का ही रूप हिन्द है। जैसे प्राकृत में स ह हो जाता है, वैसे ही फ़ारसी में भी होता है। अरब लोग व्यापार आदि के लिए सिन्ध आते थे, इसलिए उन्होंने सिन्ध को हिन्द कहा और फिर सारा देश अरबों तथा अन्य विदेशियों के लिए हिन्द हो गया। इसलिए जब मुसलमान यहाँ आये, तब स्वभावतः उन्होंने भारत वा हिन्द की भाषा को हिन्दवी या हिन्दी कहा। इस देश पर मुसलमानों का शासन आरम्भ होने के समय प्राकृत भाषाओं का युग बीता और हिन्दवी या हिन्दी का आरम्भ हो चला था। परन्तु मुसलमानों को यह हिन्दवी या हिन्दी कई रूपों में दिखायी दे रही थी, जो प्राकृत भाषाओं से उत्पन्न हुए थे। प्राचीनतम प्राकृत का नाम 'आर्ष' है और सिद्ध हेमचन्द्र सूरि ने अपनी 'प्राकृताष्टाध्यायी' में इसे 'ऋषीणामिदम्' (ऋषियों की भाषा) बताया है। आर्ष का दूसरा नाम 'ऋषिभाषिता' भी है। यह आर्ष वैदिक भाषा के साथ-साथ उत्पन्न जान पड़ती है। कालान्तर में कई प्राकृतें उत्पन्न हुईं, जो शौरसेनी, मागधी और पैशाची आदि कहलायीं। अपभ्रंश नाम की भी एक प्राकृत थी, जो आर्ष की भाँति सामान्य भाषा थी। कुछ काल के उपरान्त यह सामान्य प्राकृत महाराष्ट्री अथवा प्राकृत कहलाने लगी। वररुचि ने अपने 'प्राकृतप्रकाश' में इस सामान्य भाषा को प्राकृत वा महाराष्ट्री ही कहा भी है। कुछ समय के उपरान्त एक मिश्र भाषा पैदा हुई, जो अर्द्धमागधी कहलायी; क्योंकि शौरसेनी और मागधी के योग से जन्मी थी। यही महाराष्ट्री के बदले सामान्य भाषा बनी। इन

प्राकृतों के अनन्तर बोलियों का युग आया, जो भाषा कहलायीं। यह भाषा नाम बहुत काल तक हिन्दी कविता की भाषा के लिए प्रयुक्त होता था। इसी भाषा में सूर, तुलसी, केशव के ही ग्रन्थ नहीं, जायसी तक के ग्रन्थ पाये जाते हैं। जायसी ने पद्मावत में हिन्दी वा हिन्दुई के साथ ही भाषा शब्द का भी प्रयोग किया है। जैसे,

"आदि अन्त जस गाथा अही। कह चौपाई भाषा कही।"

और

"तुर्की, अरबी, हिन्दवी भाषा जेती आहिं।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहिं।"

तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में तो 'भाषा' शब्द का ही व्यवहार किया है, यथा–

"भाषा निबन्ध मुदमंजुलमातनोति।"
"भाषा भनित मोरि मति थोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।।"

परन्तु कहते हैं कि एक फ़ारसी पंचनामे में उन्होंने हिन्दवी शब्द का भी प्रयोग किया है। केशवदास जी ने भी अपनी कविता की भाषा को भाषा ही कहा है, जैसे–

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि़ भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास।।
उपज्यो तेहि कुल मन्दमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकास।।

इससे स्पष्ट होता है कि जिस़ भाषा में हमारे कवीश्वर कविता रचते थे अथवा संस्कृत ग्रंथों का उल्था करते थे, वह तो भाषा कहलाती थी और जिसका प्रयोग बोलचाल और साधारण लिखा-पढ़ी तथा मुसलमानों और हिन्दुओं के भावों और अभिप्रायों के विनिमय के लिए होता था, उसका नाम हिन्दी वा हिन्दवी था। परन्तु जब मुसलमानों को इस हिन्दी या हिन्दवी के अनेक रूपों का ज्ञान हुआ, तब इनमें जो सबसे पुष्ट और परिमार्जित रूप था, उसे उन्होंने रेख़्ता नाम दिया। रेख़्ता पुष्ट या पक्की भाषा है। समय पाकर यही हिन्दुओं में नागरी या नगर की भाषा व खड़ी अथवा खरी बोली कहलाने लगी। खरी का अर्थ है टकसाली, खोटी नहीं।

हम पहले देख चुके हैं कि वर्त्तमान बोलियों की उत्पत्ति के पहले कई प्राकृतें प्रयुक्त होती थीं और इनमें सबसे अधिक मार्के की आर्ष वा महाराष्ट्री वा अर्द्धमागधी तथा शौरसेनी, मागधी और पैशाची थीं। हम पहले जान् चुके हैं कि इनमें आर्ष प्राचीनतम है। वर्त्तमान संस्कृत साहित्य में हमें बहुत-से आर्ष प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनि के साधारण सूत्रों से सिद्ध नहीं होते और ये ही आर्ष प्राकृत के आधार प्रतीत होते हैं। अब कालान्तर में आर्ष के स्थान पर 'महाराष्ट्री' आयी। इसके सिवा कुछ मिश्रित भाषाएँ थीं, जिनमें 'आर्द्धमागधी' और 'नागर' मुख्य हैं। "नागरन्तु महाराष्ट्री-शौरसेन्योस्तु संकरात्" नागर प्राकृत महाराष्ट्री और शौरसेनी के मेल से बनी है और यही नागर नागरी की जननी है, जो हिन्दवी का

नाम है। अपभ्रंश का थोड़ा-सा पुट देने से यह नागरी ही वर्त्तमान हिन्दी बन गयी, जो निम्न अवतरणों से सिद्ध हो जायगा—

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिंणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एन्तु।।
सिरि चडिआ खन्तिप्फलइं, पुणु डालइं मोडन्ति।
तोबि महद्दुम सउणाहं, अवराहिंउ न करन्ति।।
पुत्तें जाएं कवणु गुण, अबगुणु कवणु मुएण।
जाबप्पी की भुंहडी, चम्पिज्जइ अवरेण।
चम्पय कुसुमहो मज्झि, सहि भसलु पइट्ठउ।
सोहइ इन्दुनीलु, जणि कणइ बइट्ठउ।।
पिय-सङ्गमि कउ निद्दडी, पिअहो परोक्खहो केम्व।
मइँ बिन्निवि बिन्नासिआ, निद्द न एम्व न तेम्व।।
जिबँ तिबँ तिक्खा लेवि कर, जइ ससि छोलिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहें मुहकमलि, सरसिव कावि लहन्तु।।
वायसु उड्डावन्तिअए, पिअ दिट्ठउ सहसत्ति।।
अद्धा बलया महिहिं गय, अद्धा फुट्टि तडत्ति।
जाइज्जइ तहिं देसडइ, लब्भइ पियहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ, अहवा तंजि निवाणु।।
गएउ सु केहरि पिअहु जलु, निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरएँ हुंकारडएँ, मुहहुं पडन्ति तृणाइं।।
ढोल्ला मइं तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु।।
विट्टीए मइं भणिय तुहुँ, मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पइट्ठि।।

ऊपर दिये अवतरणों में दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। प्रथम श्रेणी में वे हैं जो हिन्दी से ही जान पड़ते हैं जैसे, भल्ला (भला) हुआ, जु (जो), मारिआ (मार्‌या, मारा), बहिंणि (बहिन), महारा (हमारा), कन्तु (कन्त), तु (तो). भग्गा (भागा), घरु (घर), सिरि (सिर), चडिआ (चिड़िया), खन्ती (खाती), फलइं (फलहिं,फल), पुणु (पुनि), डालइं (डालहिं, डालें), मोडन्ति (मोड़ती), तोबि (तोबी, तोभी), न, करंति, जाएं, कवणु (कौन), जा. बप्पी की, पइट्ठउ (पैठो), सोहइ (सोहै), कणइ[१] (कणें-हिन्दी कने, मराठी कड़े), जणि (जनि, जनु), बइट्ठउ (बैठो), पिय, मइं, जिवं (ज्यूँ,ज्यों), तिवं(त्यूँ, त्यों), एम्व (यों), तेम्व (त्यों), जइ (यदि), अद्धा (आधा), गय (गया), आवइ (आवै),

१. कने बोलचाल में 'पास' अर्थ में कही-कहीं आज भी सुनने में आता है।

आणिअइ (आनिये), गयउ (गयौ), पियहु इत्यादि। दूसरी श्रेणी में वे हैं, जो प्राकृत का चोला छोड़कर हिन्दी का जामा पहन रहे हैं; जैसे, मुहंडी, गोरिड़ी, रत्तिड़ी, निद्दड़ी, उड्डावन्ती (उड़ाती), देसडइ (देस को), जाइज्जइ (जाइये), वय्रंसिअहु (वयसवालियों में), संगमि (सङ्गम में), छोलिज्जन्तु (छीलें), हरिणाइ (हिरणो), तृणाइ (तृण) इत्यादि।

इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्त्तमान हिन्दी प्राकृत से निकली है। उर्दू के कुछ हिमायती बहुधा कहा करते हैं कि हिन्दी और कुछ नहीं, उर्दू ही है। उर्दू से अरबी फ़ारसी शब्द निकालकर संस्कृत भर दिये गये और इस प्रकार हिन्दी बन गयी। उनका यह कथन ऊपर के प्राकृत दोहे असिद्ध ठहराते हैं। हिन्दी से उर्दू बनी है, उर्दू से हिन्दी नहीं। हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की शब्द बढ़ा देने और फ़ारसी मुहावरे चला देने से उर्दू का जन्म हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी के बिना उर्दू एक पग नहीं धर सकती और उर्दू के बिना हिन्दी में महाग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

इसी प्रसंग में एक बात यह भी कही जाती है कि हिन्दी की तृतीया विभक्ति का 'ने' चिह्न उर्दू से लिया गया है। इसी कल्पना के बल पर अमीर ख़ुसरो की पहेली के इस अंश में 'तरवर से एक तिरिया उतरी उसने खूब रिझाया' में 'ने' देखकर कुछ नवयुवक यहाँ तक कह बैठते हैं कि यह कविता ख़ुसरो की है ही नहीं, क्योंकि ख़ुसरो के समय में 'ने' का प्रयोग नहीं होता था। परन्तु उन्हें क्या पता कि 'ने' का अस्तित्व रासो में भी है। देखिये–

भग्यो प्रब्बंती एलची झारखंडी।
जिन्नै भुज्ज गोरी ग्रहल्लाज मंडी।।
परयो खांन याकूब संसार साखी।
जिन्नै दीन बन्देन की लाज राखी।।

ऊपर के दोनों अवतरणों में 'जिन्नै' पद वर्त्तमान 'जिनने' अर्थ में आया है।

वास्तव में 'ने' संस्कृत के 'एन' चिह्न का रूपान्तर है। पुराने समय में कर्मणि और भावे प्रयोगों में कभी 'ने' लिखा जाता था और कभी नहीं। हिन्दी में ही नहीं, उर्दू में भी यही बात थी। ता० २६-१०-१७२१ को महाराज जयसिह की इस चिट्ठी में 'ने' का प्रयोग हुआ है–

"सिधि श्री.....नंदलालजी प्रधान व भाइजी ठाकुर संस्थान इंदोर अमरगढसूँ महाराजाधिराज श्री सवाई जयसिंहजी कृत प्रणाम बांचजो.....सो आपको लिखते हैं कि बादशाह ने चढ़ाई की है तो कुछ चिन्ता नहीं। श्रीपरमात्मा पार लगावेगा। बाजीराव पेशवे से हमने आपके निसबत कोलबचन कर लिया है।"

यह चिट्ठी सन् १७२१ की है और 'बाबाएं रेख़्ता' बली का दीवान सन् १७१९ में दिल्ली पहुँचा था। परन्तु कबीर का जन्म तो सन् १३९८ में हुआ था, जब ख़ुसरो को मरे ७३ वर्ष हो चुके थे और कबीर ने भी नीचे लिखे पद में 'ने' चिह्न का प्रयोग किया है और कहीं नहीं भी किया है–

भजन बिन बावरे तैने हीरासो जन्म गंवाया।।
कभी न आया सन्तां सरणा ना तै हरिगुन गाया।
बह बह मरयो बैल की नाईं सोय इहां उठि खाया।।

यह संसार हाट बनिये की सब कोई सौदे आया।
चातुर माल चौगुना कीना मूरख मूल ठगाया।।
यह संसार फूल सेमर का शोभा देखि भुलाया।।

उर्दू के नामी लेखक और शाइर सौदा ने लिखा है–

जामे खालीसे जो साक़ी ने मुझे डहकाया।
मैं कहा, बख़्शिये, साहब मुझे, मैं भर पाया।।

## डिंगल और पिंगल

इस प्राकृत का अनुकरण चन्द के रासो और दूसरे ग्रन्थों की भाषा में दिखायी देता है। इसके शब्दों में कोई तराश-खराश नहीं हुई और इसलिए लट्ठमार लक्कड़तोड़ बने रह गये। राजपूताने में भाषा के दो रूप माने जाते हैं, एक डिंगल और दूसरा पिंगल। डिंगल अनगढ़ भाषा है और इसमें अधिकतर राजपूताने के चारणों की कविता होती है। राजपूताने में डिंगलेतर भाषाएँ पिंगल कहलाती हैं, जिनमें ब्रज, बैसवाड़ी, बुंदेलखण्डी, मैथिली आदि हैं।

जब महाराणाप्रताप सिंह अकबर से युद्ध के कारण जङ्गलों में पड़े घास की रोटी खाते थे, उस समय एक जङ्गली बिलाव उनकी लड़की के सामने से रोटी लेकर भाग गया था। बस, भूखी कन्या का करुण कन्दन सुनकर महाराणा का धीरज छूट गया और मेल करने के लिए उन्होंने अकबर को सन्धिपत्र लिख भेजा। अकबर के दरबार में बीकानेर-नरेश राजसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज राठौर कैद रहते थे। वे साहसी, वीर और सुकवि भी थे। उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि प्रतापसिंह अकबर के सामने सिर झुकावेंगे और यह उन्होंने अकबर से कह भी दिया। अकबर की अनुमति से पृथ्वीराज ने प्रतापसिंह को डिंगल दोहों और सोरठों में एक पत्र लिखा। ये दोहे आज भी राजपूताने में लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। हमने खरवा जिला अजमेर के इस्तमरारदार स्वर्गीय राव गोपालसिंह जी राष्ट्रवर से सुने थे। इस ऐतिहासिक पत्र की मूल प्रति तो देखने को नहीं मिली, परन्तु दोहे ये हैं–

धर बाँकी दिन पाधरा मरद ऩ मूकै माण।
घणां नरिंदा घेरियो रहै गिरिंदाँ राण।।१।।

जिस वीर की भूमि विकट है और समय अनुकूल है, वह स्वाभिमान नहीं छोड़ता। वह राणा बहुत-से नरेन्द्रों से घिरा हुआ पहाड़ी पर रहता है।

पातल राण प्रवाड़मल बाँकी घड़ा विभाड़।
खूँदाड़ै कुण है खुराँ तू ऊभां मेवाड़।।२।।

हे विकट सेनाओं के नाशक युद्धमल्ल महाराणा प्रतापसिंह, तेरे खड़े रहते मेवाड़ को घोड़ों के खुरों से खुदानेवाला कौन है?

माई एहा पूत जण जेहा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओंधकै जाण सिराणै साँप।।३।।

हे माता, ऐसा पुत्र जन जैसा राणा प्रताप है, जिसको सिरहाने साँप समझकर अकबर सोते से चौंक पड़ता है।

अइरे अकबरियाह तेज तुहालो तुरकड़ा।
नमनम नीसरियाह राण बिना सह राजवी।।४।।

ऐ अकबर, तेरा तेज देखकर बड़ा आश्चर्य होता है, जिसके सामने राणा को छोड़ सब राजा झुक गये।

सह गावड़ियो साथ, एकण बाडै बाड़ियो।
राण न मानी नाथ, ताँड़ै साँड़ प्रतापसी।।५।।

हे अकबर, तूने गायों की तरह सब राजाओं को एक बाड़े में बन्द कर दिया है। केवल राणा प्रतापसिंह तेरी नाथ न मानकर साँड़ की तरह डकर रहा है।

पातल पाघ प्रमाण, साँझी साँगा हर तणी।
रही सदा लग राण, अकबरसू ऊभी अणी।।६।।

महाराना साँगा के पोते की पगड़ी ही सच्ची पगड़ी है, जो अकबर के सामने नीची नहीं हुई, ऊँची ही रही।

चोथो चीतोड़ाह, बाँटो बाजन्ती।
माथै मेवाड़ाह, थारै राण प्रतापसी।।७।।

हे चित्तौड़ के नाथ मेवाड़ाधिपति राणा प्रतापसिंह, तेरे ही सिर पर पगड़ी है।

अकबर समुद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माहँ, पोयण फूल प्रतापसी।।८।।

अकबर रूपी अथाह समुद्र में हिन्दू तुरुक सब डूब गये। उनमें कमल के फूल की तरह मेवाड़ के राणा प्रतापसिंह ही रह गये।

अकबरिये इक वार, दागल की सारी दुनी।
अनदागल असवार, चेटक राण प्रतापसी।।९।।

अकबर ने सारी दुनिया को एक ही बार में दागी कर दिया। परन्तु चेटक घोड़े के सवार राणा प्रतापसिंह बेदाग-निष्कलंक-रह गये।

अकबर घोर अँधार, ऊँबाणां हिन्दू अवर।
जागै जगदातार, पोहर राण प्रतापसी।।१०।।

अकबर रूपी घोर अँधेरी रात में और सब हिन्दू सो गये। जगत् का दाता राणा प्रतापसिंह पहरे पर खड़ा जाग रहा है।

हिन्दू-पति परताप, पति राखो हिन्दुआणरी।
सहो विपत सन्ताप, सत्य सपथ करि आपणी।।११।।

हे हिन्दूपति प्रताप, हिन्दुओं की लज्जा रखो। अपनी प्रतिज्ञा सच्ची करने के लिए सब कष्ट सहो।

चम्पो चीतोड़ाह, पोरस तणो प्रतापसी।
सौरभ अकबर साह, अलियल आमड़िया नहीं।।१२।।

चित्तौड़ चम्पा है और प्रताप उसकी सुगन्ध है। अकबर-रूपी भौंरा उसके पास नहीं फटक सकता।

पातल जो पतसाह, बोलै मुख हूता बयां।
मिहर पछम दिस माहिं, ऊगै कासप राववत।।१३।।

प्रताप जो अपने मुँह से अकबर को बादशाह कहे, तो कश्यप-पुत्र सूर्य पश्चिम में उगे।

पटकूँ मूखा पाण, कै पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दोमहली बात इक।।१४।।

हे दीवान, मैं अपनी मूँछ पर हाथ फेरूँ या अपने शरीर को तलवार से काट डालूँ, इनमें एक बात लिख दे।

पत्र पाकर प्रताप का साहस सौ गुना हो गया और फिर पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होंने उत्तर में लिखा–

तुरुक कहासी मुखपतो, इण तणसूँ इकलिंग।
ऊगै जाहीं ऊगसी, प्राची बीच पतंग।।१।।

एकलिंग भगवान् इस शरीर से प्रताप के मुँह से तो अकबर को तुरुक ही कहावेंगे और सूर्य पूर्व में जैसे उगता है वैसे ही उगेगा।

खुसी हूँत पीथल कमध[1] पटको मूँछा पाण।
पछटण है जेतै पतो कमला सिर के बाण।।२।।

हे कमधज[2] पृथ्वीराज, खुशी से मूँछों पर ताव दो। जब तक प्रतापसिंह जीवित हैं, तब तक यवनों के सिर पर तलवार जानो।

---

१. कमध = कमधज = कबंधज।

२. संवत् सु बारा सौ इकावन (१२५१), विक्रमी दल साज।
आयो जु साहबुदीन सनमुख, भये रन महाराज (जयचन्द)।।७।।
सर अर्ध चन्द्राकार लग, कट पर्‌यो सिर मधि जंग।
कछु काल रितयो तदपि थिर रहि, दुरद पीठ निखंग।।८।।
यह हेत कहत कबन्धज तु तिंह, वंश को विख्यात।
अति रुधिरसों अन्हवाय अवनी, दई यवनन हात।।
कट परत मस्तक लरत घर, तिंहि कहत हैं जु कबंध।
अपभ्रंश कमधज शब्द भौ, मरु देश पाय संबन्ध।।९।।
कविराज मुरारीदान कृत–जसवन्तभूषण, पृष्ठ ५।६।

सांग मूँड सहसीस को समजस जहर संवाद।
भड़ पीथल जीता भलाँ बैण तुरुक सूँ बाद।।३।।

राणा प्रताप सिर पर भाला सहेगा, क्योंकि बराबरवाले का यश विष-सा जान पड़ता है। हे वीर पृथ्वीराज, तुरुक से वादानुवाद में आपकी विजय हो।

वीर पृथ्वीराज की और भी कविता डिंगल और पिंगल दोनों में हैं; विस्तारभय से यहाँ लिखी नहीं गयीं।

राजपूताने में ऐसे अनेक अवसरों पर डिंगल की कविता में ही अपने मनोभाव व्यक्त किये जाते थे। जब महाराणा अमरसिंह जहाँगीर की फौजों के दबाव से जङ्गल-जङ्गल घूमते-फिरते थक गये थे, तब नवाब खानेखानाँ को उन्होंने ये दो दोहे लिख भेजे-

हाड़ा कूरम रावबड़, गोखाँ जोख करन्त।
कहियो खानाखान ने, बनचर हुआ फिरन्त।।
तुवराँ सूँ दिल्ली गयी, राठोड़ाँ कनवज्ज।
राण पयम्पे खान ने, वह दिन दीसै अज्ज।।

उत्तर में खानेखानाँ ने लिखा-

धर रहसी रहसी धरम, खपजासी खुरसाण।[१]
अमर विशम्भर ऊपरे, राखो नहचो राण।।

ये दोहे कठिन डिंगल में नहीं हैं और थोड़े ही ध्यान से समझ में आ जाते हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' की भाषा इससे भी सरल है और अपभ्रंश प्राकृत से बहुत मिलती है। देखिये-

भरइ पलट्टइ भी भरइ, भी भरि भो पलटेहि।
ढाढ़ी हाथ सन्देसड़ा, धण बिललन्ती देहि।।
जिणि देसे सज्जन बसइ, तिणि दिसि बज्जउ बाउ।
उआँ लगे मो लगसी, ऊही लाख पसाउ।।
दुखवीसारण मनहरण, जो ई नाद न हुन्ति।
हियड़ो रतन-तलाव ज्यूँ, फूटी दह दिसि जन्ति।।

## हिन्दी में विदेशी शब्द

जब भिन्न भाषा बोलनेवाली दो जातियों का सम्पर्क होता है, तब एक की भाषा के शब्द दूसरी की भाषा में मिलने लगते हैं। अधिक सम्पर्क होता है, तब अधिक शब्द मिलते हैं, कम होता है, तब कम मिलते हैं। पिक, नेम (नीम), सत और तामरस शब्द संस्कृत के नहीं हैं। पर आज कितने पण्डित ऐसे मिलेंगे जो उन्हें संस्कृतेतर भाषा के शब्द समझते होंगे? सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि ये वेदों तक में पाये जाते हैं। मीमांसा पर भाष्य लिखनेवाले शवर मुनि का कहना है कि इन म्लेच्छ

१. खुरासान से ही मुग़ल आये थे, इसलिए उन्हें इस दोहे में 'खुरसाण' कहा है।

शब्दों का प्रयोग आर्य लोग नहीं करते। म्लेच्छ जिन अर्थों में करते हैं, उनसे यदि वैदिक परम्परा से कोई विरोध न हो, तो उन्हीं अर्थों में करना चाहिए।

इस देश में यूरोप की अनेक जातियाँ आयीं और अंग्रेज़ों ने भी डेढ़ सौ वर्षों तक राज किया। पोर्तगीज लोगों का राज्य उधर बम्बई की तरफ ही रहा, पर फिर भी अलमारी, गिरजा, पाउ (रोटी), फालतो (फालतू) इत्यादि अनेक पोर्तगीज शब्द हमारी भाषा में प्रचलित हो गये। बाजार की मिठाई की तरह बे-रोक-टोक लोग इनका व्यवहार कर रहे हैं। अरबी, तुर्की और फ़ारसी के भी बहुत शब्द प्रचलित हैं। मुसलमानी भाषाओं में सबसे कम तुर्की शब्द हिन्दी आदि भाषाओं में आये हैं। इनके बाद अरबी और सबसे अधिक फ़ारसी शब्द हम लोग व्यवहार करने लगे, क्योंकि शासकों की भाषा फ़ारसी थी। अरबी शब्द भी फ़ारसी के द्वारा ही आये हैं। अंग्रेज़ी शब्द भी हजारों की संख्या में हमारी भाषा में मिल गये हैं, जिनको साधारण लोग पहचान भी नहीं सकते। यही नहीं, अंग्रेज़ चले गये, पर जब तक हम लोग उनकी भाषा का व्यवहार करते रहेंगे, तब तक हमारी भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों का आना बन्द नहीं हो सकता। फिर नये-नये भाव और आविष्कार हमें उसके शब्द लेने को बाध्य करते हैं।

हिन्दी का प्राचीन ग्रन्थ इस समय 'पृथ्वीराज रासो' माना जाता है, क्योंकि इससे पहले के जो ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब प्राकृत में हैं। चन्द के इस रासो में विदेशी शब्दों का बहुल प्रयोग आश्चर्यजनक है, परन्तु कारण पर विचार करने से आश्चर्य का उतना कारण नहीं रहता और इसे प्रकृति का नियम मानना पड़ता है। चन्द लाहौर का निवासी था और पञ्जाब पर कोई दो सौ साल पहले से ही मुसलमानों का राज था, इसलिए चन्द की कविता में मुसलमानी-अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दों का आ जाना आश्चर्य का विषय नहीं है। इसके सिवा रासो में शिहाबुद्दीन के साथ युद्ध का भी वर्णन है, जिससे अरबी, फ़ारसी शब्दों का आना अनिवार्य हो गया। चन्दबरदायी के इस महाकाव्य में क्या है, इसकी सूचना इस श्लोक में दी गयी है :-

उक्ति धर्मविशालस्य राजनीति नवंरसं।
षट् भाषा पुराणञ्च कुरानं कथितं मया।।

-समय १, रूपक ३८

षट् भाषा वा षड्भाषा से संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश का अभिप्राय है।[१] चण्ड के इस मत से लक्ष्मीधर सहमत नहीं हैं। ये संस्कृत को षड्भाषा में नहीं रखते, उसकी जगह चूलिका पैशाची को देते हैं।[२]

---

१. संस्कृतं प्राकृतं चैषाऽपभ्रंशोऽथ पिशाचिका।
मागधी शूरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः।।

प्राकृत लक्षण, पृ० ४६।

२. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिका पैशाची अपभ्रंश इतिक्रमात्।।

षड्भाषा चन्द्रिका, पृ० ४।

रासो से जो अवतरण नीचे दिये जाते हैं, उनमें मोटे अक्षरों में जो शब्द हैं, वे सब अरबी या फ़ारसी के हैं–

हसम हयग्गय देस अति, पति सायर म्रज्जाद।
प्रबल भूप सेवहि सकल, धुनि निसान बहु साद।।
भइ सु आनि अवाज, आय साहाबदीन सुर।
बलक सोबलं तेग अच्चूक तीरं।
ठटीठट्ट बल्लोच ढालं निसानी।।
तुम छंडि सरम हम कहौ बत्त।
आसिक्क तासु हुस्सेन हुअ।
हुस्सेन मीर सल्लाम करि।
डेरा हरम सुपिट्ठ रवि, चिहुँ पष्षां वर भीर।।
पासबान कुल सील सम, पास रष्षि वर नीर।।
पात्र एक साहाब संग हूर नूर गुणगान।।
तरकस पाँच गिरंम।
संजाब षान उमराव सब्ब, लज्जी अनन्त आदब्ब थाह।।
मुक्कौं सु गुनह कीनौ पसाव।
करि गोसल्ल पवित्र होइ चिंते रहमानं।।
उलट्यौ सेन समुद्रह आब।
बकै दीन दीनं भरं अप्प दूरं।
हयं छंडि कामं मनं गन्नि गस्सं।
बज भेरि नफेरि भयानं सुरं।
तब भैरव इक गन सरिस।
किंन हुकम हरनन्द।
पच्चास पंच हज्जार गन्नि।
पद्मह पुरान तिन कह्यौ।
आरब्ब बोल बोल्यौ बिरूर।
सुरतान जानि जंप्यौ गरूर।
प्रतिबुद्ध लहौ प्रथिराज नूर।
अतुलित जुद्ध सामन्त सूर।।
गय महल साहि मिलि कही बत्त।
सिर धुनि रीस करि नैन रत्त।।
कल्हि तरीक सउच्च दिन,
चढ़ि मरि सद्धौ सार।

५

कहा डर काफर दाखहु मुज्झ।।
कहा भर आवध आगर जुज्झ।
कही षबरि सुरतान।।
बीर सोर आघात सुनि, गज छुटि बन्धन तोरि।
भिरे उभय भयभीत होइ, परि दरबारह होरि।।
अष्ट सहस असवार, तुङ्ग तिय अग्ग बनाइय।
पेसकसी पतिसाह कूर परपंचन आइय।।
लै फुरमान समान धरि।
जमन जोर बल बहुत करि।
साघ्रमं हत्थ तस्वी सुरष्ष।
दई चिंतरेषा सिताबी सुडोर।
प्रात कूच उप्परै।
आज मुक्काम जु दुस्तरि।।
झुकि प्रथिराज नरिंद।
सिलह सज्जी नदि उत्तरि।।
दुअ कोटल दुअ नृपति, किन्ने हाजुर आनि।
सुर असुरन करि मेरं, मथत दरिया हिल्लोरी।।
मर्दन सों मिलि मरद, मरद बुल्यो भूप नाहर।
लोहानें अरि फौज, चक्क चिहुँ कोद फिराइय।।
नाहर नाहर राय, कहर नाहर सुकन्ह कर।
राजनीति गज लब्भि, सीस लग्गा असमानं।
मण्डोवर परिहार मारि उज्जार जेर किय।
सगपन इक षग त्रास, षलक सेवा सिर मण्डहि।
एक सुदिन सोमेस, दूत हज्जूर बुलाइय।
तौ पत्तन सुनि श्रब्ब कग्गद वर षल्पंज आकूतयं।
हथनारि धारि आतस अनंत, सोर रोर अम्मर उड़िय।
झिनं केति षग्गं हिनंक्केति ताजी।
मिलैं भूप भूपं महावीर गाजी।।
लगैं गुर्ज सीसं इसे टोप टुट्टैं।
प्रलै काल ष्यालं मनौं वीर जग्गै।।
चढ्ढिय जिहाज जस जट्ठि खल।
धुकत धरनि षावास। कोपि कैमास कालकर।
हुअ डेरा नौबति बिहसि। पंच सबद दरबार।

चन्द के पहले के किसी कवि का हमें पता नहीं है, जिसके ग्रन्थ देखने में आये हों। परन्तु चन्द के बाद जो पहला कवि हुआ, वह हिन्दू नहीं, मुसलमान था और उसने डिंगल में नहीं, पिंगल में रचना की थी। यह अनुमान करने के कारण हैं कि डिंगल का युग बीत चुका था, क्योंकि राजपूत राजाओं ने पिंगल साहित्य का बड़ा आदर किया था। आमेर-जयपुर के राजा जयसिंह मिर्जा ने कविवर बिहारीलाल को प्रोत्साहन देकर 'सतसई' लिखायी और जयपुर के महाराज जगतसिंह ने कवि पद्माकर को आश्रय दिया, जिन्होंने 'जगद्विनोद' की रचना की। जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह भी पीछे न रहे और उन्होंने स्वयं संस्कृत ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' के 'ध्वन्यालोक' भाग का भाषान्तर 'भाषाभूषण' नाम से दोहों में किया। दूसरे महाराज जसवन्त सिंह ने अपने दरबार के कवि महामहोपाध्याय कविराजा मुरारीदान को एक विस्तृत अलंकार ग्रन्थ लिखने की आज्ञा दी, जिसके फलस्वरूप 'जसवन्त भूषण' और 'जसवन्त जसोभूषण' की रचना हुई। ये सभी ग्रन्थ पिंगल में हैं।

पिंगल के प्रथम कवि अमीर ख़ुसरो के बाद जो कवि हुए हैं, उन्होंने यथेच्छा फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दों का व्यवहार किया है। केवल सूरदास अपवाद हैं, जिन्होंने विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। परन्तु कबीर, नानक, तुलसीदास, बिहारी, गङ्ग, भूषण, पद्माकर और पजनेस ने तो उनका खूब ही प्रयोग किया है। इस विषय में हिन्दू और मुसलमान कवियों में बड़े मार्के का अन्तर है, क्योंकि हिन्दुओं ने तो विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है और मुसलमान यथासाध्य उनसे बचते रहे हैं। जायसी, रहीम, रसखानि, रसलीन, उसमान, मुबारक इत्यादि की कविता में ऐसे शब्द बहुत कम पाये जाते हैं।

# हिन्दी और मुसलमान

'पृथ्वीराज रासो' के समय से हिन्दुस्तान वा मध्यदेश पर मुसलमानी राज्य का आरम्भ होता है। बड़े ही खेद की बात है कि 'पृथ्वीराज ग्रासो' के पूर्व की और ख़ुसरो के पूर्व की भाषाओं के निदर्शन नहीं मिलते, परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि चन्द के पहले भी डिंगल के अच्छे कवि हो गये होंगे, क्योंकि किसी आदि ग्रन्थ में भाषा और भावों का ऐसा सौष्ठव सम्भव नहीं है, जैसा रासो में है। यही बात ख़ुसरो के बारे में भी कही जा सकती है। ख़ुसरो की भाषा को देखकर हर कोई कह सकता है कि यह ख़ुसरो की पैदा की हुई नहीं है और चाहे जैसा विद्वान् हो, कोई ऐसी परिमार्जित भाषा आरम्भ में लिख ही नहीं सकता। इसलिए चन्द के पहले और ख़ुसरो के पहले बहुत-सा साहित्य बन चुका होगा, जिसका हमें पता नहीं है। डिंगल और पिंगल दोनों के विषय में यही बात है।

अलाउद्दीन खिलजी के जमाने में अमीर ख़ुसरो ने हिन्दी की कविता रची थी। ख़ुसरो बड़े भारी पण्डित थे। वे अरबी, फ़ारसी, तुर्की, तूरानी, हिन्दी प्रभृति कई भाषाएँ जानते थे। उन्होंने ११ बादशाहों को दिल्ली के तख्त पर चढ़ते-उतरते देखा था और ७ बादशाहों के तो वे दरबारी ही थे। ख़ुसरो का देहान्त सन् १३२५ में हुआ था और उस समय वे ८० वर्ष के लगभग रहे होंगे।

ख़ुसरो के समय में ही हिन्दुओं में फ़ारसी पढ़ने का चाव पैदा हुआ था, क्योंकि यह राजभाषा थी। हिन्दुओं की यह लालसा ख़ुसरो ने 'खालिक़बारी' लिखकर पूरी की थी। हिन्दी भाषा में भी बहुत-से फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्द चल पड़े थे। 'खालिक़बारी' के सिवा ख़ुसरो की बहुत-सी पहेलियाँ, मुकरियाँ या कह-मुकरियाँ और सुखने आदि प्रसिद्ध हैं। ये सब फ़ारसी अक्षरों में लिख गये होंगे, क्योंकि यद्यपि ख़ुसरो हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषाओं के बीच में सेतु का काम कर रहे थे, तथापि उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि उन मुसलमान रईसों और उमरा के मनोविनोद का कारण ही होती थीं, जो हिन्दी और फ़ारसी आदि भाषाएँ जानते थे। हिन्दुओं में बहुत कम लोग अमीर साहब की ज़बाँदानी का लुत्फ़ उठा सकते थे, क्योंकि वे मुसलमानी भाषाओं में प्रवेश ही करने लगे थे।

ख़ुसरो की 'खालिक़बारी' फ़ारसी छन्द में लिखी गयी थी। नमूने के लिए कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं-

रसूल पैग़म्बर जान बसीठ। यार दोस्त बोलै जो ईठ।।
मर्द मनस ज़न है इस्तरी। क़हत अकाल वबा है मरी।।

बिया बिरादर आव रे भाई। बिनशीं मादर बैठ री माई।।
तुरा बुगुफ़तम मैं तुझ कह्या। कुजा बिमांदी तू कित रह्या।।
राह तरीक़ सबील पहचान। अर्थ तिहूका मारग जान।।

रसूल अरबी में और पैग़म्बर फ़ारसी में दूत को कहते हैं। बसीठ हिन्दी में दूत का नाम है, जैसे तुलसीदास जी ने अङ्गद से कहलवाया है "दसकन्धर मैं न बसीठी आयउँ।" बसीठ वसिष्ठ से बना है और दौत्य को बसीठी कहते हैं। इष्ट से ईठ बना है, पर आजकल हिन्दी में इसका प्रयोग नहीं होता। यद्यपि ईठ को लोग भूल गये हैं, तथापि उसके संस्कृत रूप इष्ट का प्रयोग करते हैं और इष्ट मित्र लिखते और बोलते हैं। अन्तिम बैत में 'तुझ कह्या' और 'कित रह्या' आये हैं, जो आज भी दिल्ली और उसके आस-पास कहीं-कहीं बोले जाते हैं।

ख़ुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ बड़े मार्के की होती थीं और मुकरी के तो वे आविष्कारक ही माने जाते हैं। पहेलियों में उनके उत्तर और अपना नाम भी डाल दिया करते थे, यह उनकी विशेषता थी। देखिये—

पहेली

तरवर से एक तिरिया उतरी उसने खूब रिझाया।
बाप का उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया।।
आधा नाम पिता पर बाका बूझ पहेली मोरी।
अमीर ख़ुसरो यों कहे अपने नाम निबोरी।। (निबोरी)

चार महीने बहुत चले और महीने थोरी।
अमीर ख़ुसरो यों कहे तू बता पहेली मोरी।। (मोरी)

जलकर उपजै जल में रहे, आँखों देखा ख़ुसरो कहे।। (काजल)

बीसों का सिर काट लिया। ना मारा ना खून किया।। (नाखून)

मुकरी

सगरी रैन मोहिं सँग जागा।
भोर भई तब बिछुरन लागा।
वाके बिछुरे फाटत हीया।
ए सखी! साजन? ना सखी दीया।।
सगरी रैन छतियन पर राखा।
रङ्ग रूप सब वाका चाखा।
भोर भई तब दिया उतार।
ए सखी! साजन? ना सखी हार।।
वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय।।

मीठे लागें वाके बोल।
ए सखी! साजन? ना सखी ढोल।।

दोसुखना हिन्दी का

बम्हन प्यासा क्यों? गधा उदासा क्यों? लोटा न था।
जूता क्यों न पहना? सँबोसा क्यों न खाया? तला न था।
पान सड़ा क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? फेरा न गया।

दोसुखना फ़ारसी-हिन्दी का

सौदागररा चि मीबायद? बूचे को क्या चाहिए? (दूकान)
तिशनारा चि मीबायद? मिलाप को क्या चाहिए? (चाह)

सौदागर को क्या चाहिए? दूकान। और बूचे को-जिसके कान न हों, उसे भी दो कान (दूकान) चाहिए। इसी तरह प्यासे को क्या चाहिए? कुआँ। फ़ारसी में कुएँ को चाह कहते हैं। मिलाप भी बिना चाह के नहीं होता। इसलिए इस दोसुखने का जवाब हुआ चाह।

ख़ुसरो बड़े विलक्षण पण्डित थे। फ़ारसी-हिन्दी के दोसुखने से ही उन्होंने बस नहीं किया, बल्कि फ़ारसी-हिन्दी की ग़ज़ल भी लिख डाली। उनकी यह ग़ज़ल बहुत मशहूर है और जिस समय यह बनी होगी, हिन्दीदाँ मुसलमानों ने चारों तरफ से वाह-वाह की झड़ी लगा दी होगी। वह ग़ज़ल यों है :-

ज़िहाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल
दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिजराँ न दारम् ऐ जाँ
न लेहु काहे लगाय छतियाँ।
शबाने हिजराँ दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ो
रोज़े वस्लत चु उम्र कोताह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।
यकायक अज़ दिल दो चश्मे जादू
बसद फ़रेबम् बुबुर्द तस्कीन।
किसे पड़ी है जो जा सुनाये
पियारे पी को हमारी बतियाँ।।
चु शमा सोज़ाँ चु ज़र्रह हैराँ
जे मेहरे आँ महबेगुश्तम आखिर।
न नींद नैना न अङ्ग चैना
न आप आये न भेजे पतियाँ।।

बहक़्क़ रोज़े विसाले दिलवर
कि दार मारा फ़रेब ख़ुसरो।
लुभाय राखूँ तु सुन ऐ साजन
जो कहने पाऊँ दो बोल बतियाँ।।

अर्थ–आँखें छिपाकर और बातें बनाकर दुःखियों की दशा की अवहेलना मत करो। ऐ मेरी जान, मैं विरह के सहने में असमर्थ हूँ, इसलिए क्यों नहीं छाती से लगा लेतीं। विरह की रातें तो ज़ुल्फ़ की तरह लम्बी हैं और मिलन का दिन उम्र की तरह छोटा है। ऐ सखी! जो मैं पिया को न देखूँ तो अँधेरी रातें कैसे काटूँ? उसने तो आँखों के जादू और सैकड़ों जाल-फ़रेबों से मेरे दिल से सहसा सन्तोष का हरण कर लिया। किसे पड़ी है जो प्यारे पति को मेरी ये बातें जा सुनावे? अन्त को मैं उस चन्द्रमुखी की कृपा से बत्ती में जलनेवाले ज़र्रे की तरह हैरान हो गया, इससे न नैनों में नींद है और न शरीर को चैन है। वह न आप आते हैं और न पत्र भेजते हैं। ऐ ख़ुसरो, मुझे सचमुच (अथवा खुदा की क़सम) मुझे प्रियतम से मिलने के दिन ने धोखा दिया। ऐ साजन! सुन, जो मैं दो बातें कर पाऊँ तो उसे लुभा रखूँ।

यह बड़े ही खेद की बात है कि भाषा में बहुत-सा साहित्य-निर्माण हो चुकने पर भी जहाँ तक हिन्दवी या हिन्दी का सम्बन्ध है, कबीर के पहले तक कुछ नहीं हुआ। सन्त कबीर के बाद दूसरे सन्त नानक हुए और इनके बाद पानीपत की दूसरी लड़ाई तक हिन्दी अन्धकार में रही। इस समय मुग़लों का साम्राज्य स्थापित हुआ। अकबर का शासन-काल हिन्दी के उत्थान का काल समझना चाहिए, जब बहुत-से कवियों ने अनेक बोलियों में रचना की।

अकबर के शासन-काल में उच्चकोटि का साहित्य-निर्माण हुआ, क्योंकि साधारण कवि ही नहीं, बादशाह और उनके हिन्दू-मुसलमान मन्त्री भी हिन्दी में कविता करते थे। बीरबल या बीरबर अकबर के बड़े मुँहलगे थे और उनकी मृत्यु पर बादशाह बड़े शोकाकुल हुए थे। उन्होंने अपना मनोभाव इस सोरठे द्वारा व्यक्त किया था :–

सब कछु दीनन दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सोउ दै हमहिं प्रवीन, नहिं राख्यो कछु बीरबर।।

बीरबर अपनी वर्ष-गाँठ पर अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे। युद्ध पर जाते समय भी उन्होंने यही किया था। वहीं वे काम आये। इसका दुःख अकबर को बहुत हुआ और वही इस सोरठे में प्रकट किया गया है।

अकबर के महामन्त्री नवाब अब्दुर्रहीम ख़ानेख़ानाँ थे। ये भी अमीर ख़ुसरो की तरह बड़े विलक्षण पण्डित थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अमीर साहब और नवाब साहब में किसका पाण्डित्य अधिक था, परन्तु नवाब ख़ानेख़ानाँ को हिन्दी की अनेक उपभाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने ब्रजभाषा, राजपूतानी और खड़ीबोली में भी कविता की है। और तो क्या, जहाँ अमीर ख़ुसरो ने फ़ारसी हिन्दी की खिचड़ी पकायी है, वहाँ इन्होंने संस्कृत-हिन्दी मिश्रित कविता की है। छन्द भी संस्कृत ही रखा है।

## ब्रजभाषा

रहिमन जो ओछो बढ़ै तो अति ही इतराय।
प्यादे से फर्जी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय।।
यों रहीम सुख होत है, बढ़्यौ देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियान लखि, आँखिन को सुख होत।।
छार मुण्ड मेलत रहत, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज रिषि पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज।।

## हिन्दी-खड़ीबोली

कलित ललित माला बाजवाहिर[१] जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था।।
कटितट बिच मेला पीत सेला नबेला
अलिबन अलबेला यार मेरा अकेला।

## संस्कृत-हिन्दी मिश्रित

दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां, मैं था गया बाग़ में।
काचित्तत्र कुरङ्गशावनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी।।
उन्मद्भ्रू घनुषा कटाक्षविशिखैः, घायल किया था मुझे।
तत्सीदामि सदैव मोहजलधौ, हे दिलगुज़ारी शुकर।।
एकस्मिन्दिवसे ऽवसानसमये मैं था गया बाग़ में।
काचित्तत्र कुरङ्गबालनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी।।
तां दृष्ट्वा नवयौवनां शशिमुखीम्, मैं मोह में पड़ गया।
नोजीवामि त्वया बिना शृणु सखे, तू यार कैसे मिले।।

ख़ानेख़ानाँ ने राजपूताने की बोली में जो दोहा बनाकर महाराणा अमरसिंह को भेजा था, उसकी चर्चा पहले हो चुकी है। वे ज्योतिषी भी बड़े भारी थे, इसलिए ज्योतिष सम्बन्धी कविता भी की थी।

'खेट कौतुक जातकम्' नामक सवा सौ श्लोकों की उनकी पुस्तिका प्रसिद्ध है। इन श्लोकों की भाषा संस्कृत-फ़ारसी मिश्रित है। राजयोगाध्याय के कुछ श्लोकों में हिन्दी की भी खिचड़ी पकायी गयी है। उसी से ये उद्धृत किये जाते हैं—

यदा मुश्तरी कर्कटे बाकमाने।
यदा चश्मखोरा ज़मीवासमाने।।

---

१. बाजवाहिर = रत्न से।

तदा ज्योतिषी क्या कहै क्या पढ़ेगा।
हुआ बालका पादशाही करैगा।।[१]
यदा शत्रुखाने पड़ै उच्चका।
करै ख़ाक दौलत फिरै जा बजा।।

इसी तरह का एक पद्य तो बिलकुल हिन्दी ही में है, देखिये–

यदा भाग्य मालिक भले घर पड़ै। कमाकर सुदौलत ख़जाने भरै।।
करैंगे जबख़्शी अमीरी सुफल। वज़ीरी अमीरी करैं बेफ़िकर।।

अकबर के शासनकाल और उसके बाद भी कई बहुत अच्छे मुसलमान कवि हुए, पर इनकी कविता हिन्दू ढंग की और भाषा में ही हुई। ख़ुसरो या ख़ानेख़ानाँ की जोड़ का खड़ीबोली का कवि नहीं हुआ। रसखानि भी ख़ानेख़ानाँ के समसामयिक थे, परन्तु इनकी कविता किसी परम वैष्णव की कविता से उन्नीस नहीं थी। यह कवित्त इनका बहुत प्रसिद्ध है–

मानुष हों तो वही रसखानि,
बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पशु हों तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हों तौ वही गिरि कौ,
जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हों तौ बसेरो करौं,
वा कलिन्दिजा कूल कदम्ब की डारन।

गंग कवि अकबर के समसामयिक थे और कहा जाता है कि नवाब ख़ानेख़ानाँ ने ३६ लाख रुपये इन्हें इनाम में दिये थे। इनकी प्रशंसा में उनका यह कवित्त था–

राजे भाजे राज छोड़ि रन छोड़ि राजपूत,
रौतौ छोड़ि राउत रनाई छोड़ि राना जू।
कहै कवि गंग हूल समुद्र के चहूँ कूल,
कियो न करै कबूल तिय खसमाना जू।
पश्चिम पुरतगाल कासमीर अवताल
खक्खर को देस बाढ्यो भक्खर भगाना जू।
रूम साम लोम सोम बलक बदाऊशान
खैल फैल खुरासान खीझे खानखाना जू।।

गंग कवि अरबी–फ़ारसी शब्दों का प्रयोग तो अपनी कविता में करते ही थे, पर इन्होंने हिन्दी–

१. जिसकी जन्मपत्री में कर्क वा धन के बृहस्पति हों और दसवें स्थान में बृहस्पति हों, तो ज्योतिषी क्या लिखे–पढ़ेगा, क्योंकि वह लड़का पादशाही करेगा।

फ़ारसी मिश्रित कविता भी की थी। (ख़ुसरो ने फ़ारसी-हिन्दी मिश्रित की थी।) देखिये, एक आध कवित्त इस प्रकार है-

कौन घरी करिहैं विधना
जब रूए आँ दिलदार मुबीनम्।
आनन्द होइ तबै सजनी
दर वस्ले यार निगारनशीनम्।

गंग कवि अनेक भाषाएँ जानते थे और इसलिए इनकी कविता में अनेक प्रकार की भाषाएँ रहती थीं। कविवर भिखारीदास का यह दोहा प्रसिद्ध है-

तुलसी गंग दोऊ भये सुकविन के सरदार।
जिनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।।

गंग के बाद हिन्दू कवियों की भाषा में फ़ारसी-अरबी शब्द और भाव जोरों के साथ आने लगे थे। इनके प्रायः सौ वर्ष बाद सं० १७६० में रसनिधि (दतिया के जागीरदार पृथ्वीसिंह) हुए हैं। इनकी कविता देखिये-

जेहि मग दौरत निर्दई, तेरे नैन कजाक।
तेहि मग फिरत सनेहिया, किये गरेबाँ चाक।।

कजाक-कज़्ज़ाक़ शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। अरबी में इसका अर्थ डाकू है। इसी का रूपान्तर अंग्रेज़ी का कोजाक वा कासक शब्द है। यह एक रूसी जाति है जो घुड़सवारी में बहुत निपुण समझी जाती है। हिन्दी में यह शब्द बहुत प्रचलित है। कविता में तो कजाकी या कजाखी शब्द बहुत आता है, जैसे "करत कजाखी कजरारे नैन कोरदार।" परन्तु बोलचाल में इसका प्रयोग 'बदमाशी' के लिए होता है। गरेबान् अँगरखे की चोली को कहते हैं और चाक करना, फाड़ना है। यह भाव बिलकुल फ़ारसी है। गरेबाँ चाक़ दिखाने का अर्थ अपना हृदय खोल देना है।

शाहजहाँ अकबर का पोता था, पर कविता हिन्दुओं की-सी ही करता था। जब औरंगज़ेब ने इसे हर तरह से तङ्ग करना शुरू किया, तब इसने दुःखी होकर यह कवित्त बनाया था-

जन्मत ही लख दान दियो अरु नाम धर्‌यो नवरंगबिहारी।
बालहिंसो प्रतिपाल कियो अरु देश मुलुक्क दियो दल भारी।
सो सुत बैर बुझै मन में धरि हाय दियो बँधसार में डारी।
शाहजहाँ बिनवै हरिसों बलि राजिवनैन रजाय तिहारी।।

औरंगज़ेब तो नहीं, पर उसकी पुत्री शाहजादी ज़ेबुन्निसा बेग़म के हिन्दी में कविता करने का पता लगता है। कहते हैं कि 'नैन-विलास' कविता-ग्रन्थ की कर्त्री ये ही हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम दोहा इस प्रकार बताया जाता है-

ज़ेबुन्निसा जहान में, दुख़्तर आलमगीर।
नैन विलास विलास में, खास करी तहरीर।।

इनके सिवा और भी कितने ही मुसलमान हिन्दी कवि हो गये हैं, जिनमे दीवान सैयद रहमतुल्ला, सैयद गुलाम नबी 'रसलीन', मीर अब्दुल वहिद 'जौक़ी', मुहम्मद आरिफ़, मीर अब्दुलजलील 'जलील', सैयद निजामुद्दीन 'मधुनायक' और सैयद बर्कतुल्ला 'प्रेमी' विशेष उल्लेखनीय हैं।

भिखारीदास रसनिधि के समसामयिक थे, क्योंकि इनका जन्म संवत् १७५५ विक्रमी है। इस हिसाब से ये अकबर के कोई सवा सौ वर्ष बाद हुए हैं। इनके समय में अरबी-फ़ारसी शब्द हिन्दी कविता में स्वच्छन्दता से प्रयुक्त होते थे, परन्तु कभी-कभी बड़े कठिन शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता था। इसलिए इन्होंने अपने 'काव्यनिर्णय' ग्रन्थ में अति सरल फ़ारसी शब्दों के व्यवहार की व्यवस्था दे दी थी। इनका कहना था-

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति सुगम जु होय।।

इसके बाद एक मिश्रित भाषा ही तैयार हो गयी, जिसमें हिन्दी की अंगभूत भाषाओं के साथ अरबी-फ़ारसी मिलायी जाती थी। इस विषय में एक दूसरे कवि का कथन है-

अन्तरवेदी नागरी, गौड़ी पारस देश।
अरु अरबी जामै मिलैं, मिश्रित भाषा भेश।।

इसलिए हिन्दी में अरबी-फ़ारसी शब्द बेरोक-टोक चल पड़े थे। इसका कारण यह था कि राज्य मुसलमानों का था और हिन्दुओं ने नौकरी-चाकरी के लिए फ़ारसी-अरबी सीख ली थी। इच्छा वा अनिच्छापूर्वक अनेक शब्द भाषा में लोग चला रहे थे और इसलिए कविता में अनुप्रास और यमक के लिए इनका प्रयोग उचित प्रतीत होता था। इस प्रकार हिन्दी खिचड़ी भाषा बनने लगी।

●

# हिन्दी और उर्दू

अमीर ख़ुसरो ने अपनी खालिक़बारी और पहेलियों में जिस भाषा को हिन्दी या हिन्दवी कहा है, वह उत्तर भारत के बड़े भारी भाग की भाषा थी। नागरिकों की बोलचाल और लिखा-पढ़ी में यही काम आती थी, इसलिए यह रेख़्ता या पुष्ट भाषा कहलाती थी। यह रेख़्ता शब्द भी फ़ारसी का ही है। शम्सउल-उलेमा मौ० मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद मरहूम फ़र्माते हैं–"इस ज़बान को रेख़्ता भी कहते हैं, क्योंकि मुख़्तलिफ़ (भिन्न-भिन्न) ज़बानों ने इसे रेख़्ता किया है। जैसे दीवार को ईंट, मिट्टी, चूना, सफ़ेदी वग़ैरह से पुख़्ता करते हैं या यह कि रेख़्ता के मानी हैं गिरी पड़ी परेशान चीज़। क्योंकि इसमें अल्फ़ाज़ परेशान जमा हैं, इसलिए इसे रेख़्ता कहते थे।" (आबेहयात, पृष्ठ २१)

फ़ैलन ने इस शब्द का अर्थ लिखा है–'मर्दों की हिन्दुस्तानी बोली।'[1] परन्तु बेट का कहना है कि 'हिन्दुस्तानी भाषा, मिश्रित होने के कारण रेख़्ता कहलाती है।'[2]

मुंशी दुर्गाप्रसाद नादिर 'खज़ीनतुल उलूम' में लिखते हैं कि "रेख़्ता बमानी गिरे हुए के हैं, पस जो ज़बान अपनी असलियत से गिर जाय उसको 'ज़बान-रेख़्ता' बोलते हैं; चुनांचे जैसे फ़ारसी ज़बान में अरबी के लुग़त शामिल हुए, इसे ज़बान रेख़्ता-फ़ारसी कहते हैं। इसी तरह ज़बान रेख़्ता-हिन्दी को ज़बान उर्दू समझते हैं।" (पं० पद्मसिंह शर्मा कृत. 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी')

फ़ैलन ने रेख़्ती की[3] भी चर्चा की है और उसका अर्थ बताया है–"स्त्रियों के सुरों और मुहावरों में उनके विशेष प्रकार के भावों और विशेषताओं से युक्त लिखी हुई हिन्दुस्तानी कविता।" रेख़्ता एक प्रकार का छन्द भी होता है और कबीर ने बहुत-से रेख़्ते लिखे भी हैं। रेख़्ती यदि स्त्रियों की कविता की भाषा हो, तो पुरुषों की कविता की भाषा को रेख़्ता कहना अनुचित नहीं है। यही नहीं, उर्दू कवियों ने हिन्दी अर्थ में रेख़्ता शब्द का प्रयोग भी किया है; जैसे –"शेर बेमानी से बिहतर है तो कहना रेख़्ता" (आबेहयात, पृष्ठ २१) अभिप्राय यह है कि फ़ारसी में जो लोग अर्थरहित शेर लिखते हैं, उससे बिहतर है कि वे रेख़्ता कहें अर्थात् हिन्दी में कविता करें। स्व० पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने अपने 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' शीर्षक व्याख्यान में लिखा है–" 'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'सादी' दक्खिनी के कलाम में मिलता है, जो 'वली' दक्खिनी से पूर्व, आदिलशाह अव्वल के समय (सन् १५८६ ई०)

---

1. The Hindustani langauge as spoken by men (Fallon).
2. The Hidustani language (being a mixed one) is called REKHTA (Bate).
3. Hindustani verse written in the tones and idioms of women with their peculiar sentiments and characterestics (Fallon).

में हुआ है। बाद को दूसरे कवि लेखकों ने भी रेख़्ते का प्रयोग अधिकता से किया है। मीर तक़ी मीर ने अपने 'तज़करे निकातुश्शोरा' में और 'क़ायम' चाँदपुरी ने 'मख़ज़ने-निकात' में बार-बार उर्दू नज़्म (कविता) के लिए 'रेख़्ता' ही लिखा है। (पृष्ठ २१-२२) रेख़्ते से पद्य की भाषा ही पहले समझी जाती थी। लल्लूलाल जी ने भी प्रेमसागर की भाषा को रेख़्ते की बोली कहा है।

अब इसमें सन्देह नहीं कि यही रेख़्ता (ख़ुसरो की हिन्दी या हिन्दवी) वर्तमान हिन्दी और उर्दू की जड़ है, जो आर्ष-अपभ्रंश प्राकृत से उत्पन्न हुई है। इसका हिन्दू नाम अंतर्वेदी नागरी था, क्योंकि गङ्गा-यमुना के अन्तर्वेद या दोआबे में बसे हुए नागरिकों या शहरी लोगों की यह भाषा थी। उस समय हिन्दू लोग इसे साहित्य-रचना के काम में नहीं लाते थे सही, पर यह सकल बोधगम्य (आमफ़हम) थी और हिन्दू-मुसलमान दोनों इसे बोलते थे। जब मुसलमान इस देश में आये, तब उन्हें अपनी भाषा में इसकी पुट दे-देकर काम चलाना पड़ा। साथ ही जब मुसलमानी राज इस देश में जम गया और अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि मुसलमानी भाषाओं के बहुत-से शब्द भाषा में आ गये और हिन्दुओं ने भी फ़ारसी पढ़-पढ़कर उनके शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में प्रारम्भ किया, तब एक मिश्र भाषा बन गयी। आबेहयात में लिखा है कि "पन्द्रहवीं सदी में सिकन्दर लोदी के ज़माने में कायथ फ़ारसी पढ़कर शाही दफ़्तर में दाख़िल हुए और अब इन लफ़्ज़ों को उनकी ज़बानों पर आने का ज़्यादा मौक़ा मिला।"

हिन्दुओं में फ़ारसी की शिक्षा बढ़ जाने के कारण अथवा किसी अन्य विचार से सं० १६३८ अथवा सन् १५८१ में राजा टोडरमल ने महकमा माल के दफ़्तर हिन्दी के बदले फ़ारसी में कर दिये। स्वर्गवासी मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ की इस बात का समर्थन प्रोफेसर ब्लॉकमैन भी करते हैं। इन्होंने 'कैलकटा रिव्यू' में लिखा था कि इस समय तक मालगुजारी के महकमे के सब काग़ज़ात-दस्तूर उल-अमल हिन्दी में थे, पर राजा टोडरमल के हुक्म से सब फ़ारसी में कर दिये गये । टोंडरमल भी भाषा में कविता करते थे, इसलिए हिन्दी का अहित करने के लिए उन्होंने फ़ारसी का प्रवेश कराया, यह तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" कहावत चरितार्थ हुई। शाही दरबार में हिन्दी के बदले फ़ारसी का बोलबाला हो गया। हिन्दी का गौरव न रहा। यद्यपि इसमें कविता होती रही और मुसलमान कवि और सम्राट् भी कविता करते रहे, तथापि इसकी क़दर न रही। इससे जो हानि हुई यदि उसकी कल्पना टोडरमल को होती, तो देश की यह भयंकर हानि न होती। परन्तु विचार करके जैसे और बहुत-से काम नहीं किये गये वैसे ही यह भी नहीं किया गया।

ख़ालिक़बारी और पहेलियाँ आदि ख़ुसरो ने फ़ारसी अक्षरों में ही लिखी थीं। और तो क्या, पद्मावत की जो प्रति मिली, वह भी फ़ारसी अक्षरों में ही मिली। चन्द्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीरहठ' काव्य भी फ़ारसी अक्षरों में ही मिला। इससे जान पड़ता है कि मुसलमान हिन्दी तो लिखते थे, पर फ़ारसी अक्षरों में। इसके प्रमाण में हम ख़ुसरो की यह पहेली पेश करते हैं-

अन्धा गूँगा बहरा बोले, बहरा आप कहाये।
देख सफ़ेदी होय अँगारा, गूँगे से भिड़ जाये।।
बाँस का मन्दिर वाका बासा, बाशे का वह खाजा।
संग मिले तो सिर पर राखें, वाको राव और राजा।।

सीसी करके नाम बताया, तामें बैठा एक।
उलटा सीधा हिर फिर देखा, वही एक का एक।।
भेद पहेली मैं कही, तू सुन ले मेरे लाल।
अरबी हिन्दी फ़ारसी, तीनों करो खयाल।।

यह लाल की पहेली है। हिन्दी, अरबी और फ़ारसी में लाल किस-किस को कहते हैं, यह जाने बिना इसका अर्थ नहीं हो सकता। अरबी में लाल सुर्ख को कहते हैं और फ़ारसी में गूँगे-बहरे को। हिन्दी में एक छोटी-सी चिड़िया लाल कहलाती है। यह पिंजरे में रहती है और पिंजरा बहुधा बाँस का बनता है, इसलिए कवि इस लाल के घर को-बासे को बाँस का मन्दिर बताता है। फिर बाशा छोटे बाज को कहते हैं। यह लाल को मारकर खा जाता है, इसी से उसे बाशे का खा़जा-खाद्य बताया। चूँकि लाल-मानिक रत्न हाता है; इसलिए रावराजाओं के मुकुटों में रखा जाता है। सीसी करने से मुँह से लाल-लाला या राल टपकती है, इससे वह भी लाल हुई और लाल हिन्दी में बच्चे को भी कहते हैं। इस प्रकार हिन्दी में लाल के चिड़िया, मानिक, लाला (लार) और बच्चा ये चार अर्थ हुए। फ़ारसी और अरबी में एक-ही-एक अर्थ हुआ। परन्तु जो सबसे मार्के की बात कवि ने कही है; वह यह है कि उलटा-सीधा चाहे जैसे पढ़ो, वह लाल ही रहेगा। यदि ख़ुसरो ने यह पहेली हिन्दी में लिखी होती तो, यह बात कैसे होती? फ़ारसी अक्षरों में, लाम 'ऐन' और 'लाम' लिखने से लाल बनता है। क्योंकि आगे-पीछे 'लाम' और बीच में ऐन है। हिन्दी में 'लाल' को उलटकर पढ़े तो लला हो जाय। फ़ारसी अक्षरों में हिन्दी के इस तरह लिखे जाने से ही उर्दू महावृक्ष का बीजारोपण किया गया।

दिल्ली के मीर अम्मन ने १८०२ में फोर्ट विलियम कॉलेज के कप्तान गिलक्रिस्ट के आदेश पर अपनी जो प्रसिद्ध पुस्तक 'बाग़ो बहार' नाम से लिखी थी, उसके दीबाचे (भूमिका) में उन्होंने अपनी समझ से उर्दू का इतिहास दिया है। वे लिखते हैं-

"हक़ीक़त उर्दू ज़बान की बुज़ुर्गों के मुँह से यूँ सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओं के नज़दीक चौजुगी है। वहाँ राजा, परजा क़दीम से रहते थे और अपनी भाखा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुलतान महमूद गज़नवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमदोरफ़्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिन्दू मुसलमान की आमेज़िश पायी। आखिर अमीर तैमूर ने··· हिन्दुस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाख़िल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया।····जब अकबर बादशाह तख़्त पर बैठे, तब चारों तरफ के मुल्कों से सब क़ौम क़द्रदानी और फ़ैजरसानी उस खान्दान लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए। लेकिन हरेक की गोयाई और बोली जुदा-जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुल्फ़, सबाल-जवाब करते एक ज़बान उर्दू की मुक़र्रर हुई।"

मीर अम्मन के अनुयायी उनसे भी आगे बढ़ गये और कहने लगे कि इसका नाम रेख़्ता शाहजहाँ के ज़माने में मुसलमान कवियों ने रखा था।

अब इतिहास के प्रकाश में इस वक्तव्य को देखिये। हम देख चुके हैं कि अकबर या मुग़लों का

जब पता भी न था और उनसे शताब्दियों पहले अमीर ख़ुसरो ने ऐसी भाषा में रचना की थी जो रेख़्ता या उर्दू से भिन्न नहीं है और जिसे वे हिन्दी या हिन्दवी कहते थे। अकबर सन् १५५६ में तख़्तनशीन हुआ और शाहजहाँ ने १६२७ से १६५८ तक राज किया। पर अमीर ख़ुसरो अकबर और शाहजहाँ के जन्म के बहुत पहले ही सन् १३२५ में कूच कर गये और ख़ुसरो की भाषा यदि वली से बेहतर नहीं, तो वैसी ही है। ख़ुसरो के बाद कबीर का नम्बर है। ये १३९८ में काशी में पैदा हुए थे। विद्वत्ता की दृष्टि से ख़ुसरो और कबीर की तुलना नहीं हो सकती, पर ये बड़े सन्त थे और प्रादेशिक बोलियों में ही नहीं, हिन्दी में भी भलीभाँति अपने विचार प्रकट कर सकते थे। इन्होंने पद और साखियाँ ही नहीं लिखीं, रेख़्ते भी लिखे, जिससे सिद्ध है कि उस समय रेख़्ता शब्द प्रचलित था। उनके कुछ पद्य ये हैं–

दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे को होय।।
यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं।।
पाया कहैं ते बावरे, खोया कहैं ते कूर।
पाया खोया कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर।
सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनी के हेत।
पुर्जा पुर्जा कटि मरै, तऊ न छाँड़ै खेत।।

## बनारसी बोली में

अँधियरवा में ठाढ़ि गोरी का करलू।।टेक।।
जब लगि तेल दिया में बाती, येहि अँजोरवा बिछाय घलतू।
मनका पलँग सन्तोष बिछौना, ज्ञान तकिया लगाय रखतू।।
जरि गया तेल, बुझाई गई बाती, सुरत में सुरत समाय रखतू।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो, जोतिया में जोतिया मिलाय रखतू।।

## रेख़्ता

बिना बैराग कहु ज्ञान केहि काम का,
पुरुष बिनु नारि नहिं सोम पावै।
स्वाँग तो साहु का काम है चोर का,
कपट की झपट में बहुत धावै।।१।।
बात बहुत कहै झूठ छूटै नहीं,
मुख के कहे कहा खाँड़ खावै।
कहै कबीर जब काल गढ़ घेरिहै,
बात बहु बकै सब भूलि जावै।।२।।

हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोलै।।१।।
हल्की थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोलै।।२।।
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गई बिन तोलै।।३।।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोलै।।४।।
तेरा साहिब है घट माहीं, बाहेर नैना क्यों खोलै।।५।।
कहै कबीर सुनो भइ साधो, साहिब मिल गये तिल ओलै।।६।।

कबीर के बाद नानक हैं। इनका जन्म कबीर से ७१ वर्ष बाद सन् १४६९ में हुआ था और इन्होंने ऐसी भाषा में लिखा जो पञ्जाबी की कुछ पुट होने पर भी खड़ीबोली या रेख़्ता ही है। इसका उदाहरण निम्नलिखित पद्य है–

इस दमदा मैंनू की बेभरोसा,
आया आया न आया न आया।
या संसार रैनदा सुगना,
कहीं दीखा कहिं नाहिं दिखाया।।
सोच विचार करै मत मन में,
जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भगतन के पद परसे,
निस दिन रामचरन चित लाया।

यदि रेख़्ता खड़ीबोली का नाम न होता, तो कबीर इस शब्द का प्रयोग न कर सकते। इसलिए तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि फ़ारसी के कवियों ने हिन्दी को रेख़्ता नाम दिया था, तथापि यह घटना शाहजहाँ के नहीं, सम्भवतः सिकन्दर लोदी के ज़माने की है, जब कायस्थों ने फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया था।

यह रेख़्ता जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, फ़ारसी अक्षरों में मुसलमानों द्वारा लिखी जाती थी और हिन्दुओं के लेख हिन्दी अर्थात् नागरी अक्षरों में होते थे। जिन मुन्शी नौनिधराय की 'दस्तूरे सूबियाँ' और 'मसदर फ़यूज़' किताबें मकतबों में फ़ारसी आरम्भ करनेवालों को पढ़ायी जाती थीं, उन्होंने मसदर फ़यूज़ की अपनी भूमिका में स्पष्ट ही उर्दू को हिन्दी कहा है। वे कहते हैं–

करूँ बाद इसके बहिन्दी ज़बाँ।
कई क़ायदे फ़ारसी के बयाँ।।

उर्दू कविता के प्रसिद्ध मुसलमान रचयिताओं ने उर्दू को हिन्दी या रेख़्ता ही कहा है। जैसे–

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे क़ल्ब।
आया नहीं है लफ़्ज़ यह हिन्दी ज़बाँ के बीच।। (मीर)
मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब।
सब जानते हैं तुर्क की हिन्दी ज़बाँ नहीं।। (आतिश)

एल्लोर के बाक़र आगाह के 'दीवाने हिन्दी' के सिलसिले में मि० मुहम्मद अब्दुल क़ादिर सरवरी एम०ए०, एल-एल०बी० लिखते हैं-

'दीवान के सरवरक़ (मुखपृष्ठ) पर और ख़ुद अशयार में (शेरों में) भी कहीं-कहीं 'हिन्दी' ही का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया गया है। ताहम यह मालूम रहे कि इससे मुराद उन शाइरों की उर्दू होती थी, क्योंकि वह उर्दू को हिन्दी से कोई जुदा चीज़ नहीं समझते थे।"

वे आगे चलकर कहते हैं-

"हिन्दी या हिन्दवी इसका क़दीमतरीन नाम था। उर्दू और दखनी के लिए भी यह लफ़्ज़ बिला तकल्लुफ़ इस्तेमाल होता था, गोया 'उर्दू', 'हिन्दी' और 'दखनी' एक ही ज़बान के मुख़्तलिफ़ नाम थे। ...इस ज़बान की शाइरी रेख़्ता कहलाती थी।"-रिसाला उर्दू, अप्रैल १९२९।

लाहौर की ओरियण्टल कानफरेन्स के अध्यक्ष मौलाना हबीबुर रहमान साहब अपने भाषण में फरमाते हैं-

शाहजहाँ के शासन-काल में इस भाषा का नाम उर्दू था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। और समीप की बात सुनिये। सन् १८०५ ई० में सैयद मुहम्मद हैदरी 'दह मजलिस' नामक एक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं-

अब तक फ़ारसी ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी गद्य में नहीं हो पाया।

इतना ही नहीं, सन् १८१६ में सर विलियम केरी नामक अंग्रेज़ विद्वान् लिखते हैं-

हिन्दी मुसलमान (हिन्दुस्तान?) की अदालती भाषा है। यह छावनियों में भी बोली जाती है। मुसलमान शासकों की राजधानियों में भी इसका अव्याहत प्रचार तथा व्यवहार है।

२८ जुलाई १८३६ तक उर्दू नहीं, 'हिन्दी' 'कोर्ट लैंग्वेज' (अदालती ज़बान) मानी गयी है, इसके पुष्ट प्रमाण हैं।

हिन्दी और उर्दू का प्रश्न इस देश में क्यों उठ खड़ा हुआ और उसके कारण इन दोनों भाषाओं के समर्थकों के मध्य मतभेद की दीवार कैसे खड़ी हो गयी, इस पर महाकवि हाली की नीचे लिखी पंक्तियाँ पढ़ने लायक हैं। उन्होंने रोग का कैसा उचित और उपयुक्त निदान किया है और कैसी अमोघ ओषधि बतलायी है। महाकवि लिखते हैं-

"कौन नहीं जानता कि मुसलमान बावजूदे कि तक़रीबन एक हजार बरस से हिन्दुस्तान में आबाद हैं, मग़र इस तवील मुद्दत में इन्होंने चंद मुस्तस्निफ़ात का छोड़कर कभी संस्कृत या ब्रजभाषा (हिन्दी) की तरफ़ बावजूद सख़्त ज़रूरत के आँख उठाकर भी नहीं देखा। जिस संस्कृत को यूरोप के मुहक़्क़िक़ लातनी व यूनानी से ज़्यादा फ़सीह ज़्यादा वसीह और ज़्यादा बाक़ायदा बताते हैं, और जिसकी

तहक़ीक़ात में उम्र बसर कर देते हैं, मुसलमानों ने आम तौर पर कभी उसको क़ाबिले इल्तिफ़ात नहीं समझा। अगर यह कहा जाय कि संस्कृत का सीखना कोई आसान काम नहीं है, तो ब्रजभाषा (हिन्दी) तो बमुक़ाबले संस्कृत के निहायत सहलुलहुसूल (सुलभ) है और उसकी शायरी निहायत लतीफ़ शिरगुफ़्ता और फ़साहत बलाग़त से लबरेज़ है, उसको भी अमूमन बेगानावार नज़रों से देखते रहे हैं। हालाँकि जो उर्दू उनको इस क़दर अज़ीज़ है, उसकी ग्रामर का दारोमदार बिलकुल ब्रजभाषा (हिन्दी) या संस्कृत की ग्रामर पर है...."

"सच तो यह है कि मुसलमानों का हिन्दुस्तान में रहना और संस्कृत या कम-से-कम ब्रजभाषा (हिन्दी) से बेपरवाह या मुतनफ़्फ़िर होना बिलकुल अपने तईं इस मसल का मुसताक बनाना है कि दरिया में रहना मगरमच्छ से वैर।"

"जो शख़्स उर्दू का अदीब और मुहक़्क़िक़ होना चाहता है, उसे संस्कृत या कम-से-कम हिन्दी भाषा का जानना ज़रूरी है।"

"उर्दू लुग़ात में हिन्दी के वे अलफ़ाज़ जो आम बोलचाल में आते हैं या जो हमारी ज़बान में खप सकते हैं बिला तकल्लुफ़ कसरत से दाख़िल करना चाहिए। ख़ुद अपनी नज़्मो नसर में वे हिन्दी अलफ़ाज़ ऐसी खूबसूरती से लिखे जाते थे कि यह मालूम होता था कि गोया इसी मौक़े के लिए वज़अ हुए हैं। उन्होंने बहुत-से हिन्दी अलफ़ाज़ उर्दू अदब में दाख़िल किये जो हमारी नज़र से ओझल थे और जिन्हें किसी उर्दूवाले ने इस्तेमाल न किया था। उर्दू पर क़ुदरत हासिल करने के लिए यह भी ज़रूरी है कि हिन्दी में फ़िल जुमला दस्तगार बहम पहुँचायी जाये। उर्दू की बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिन्दी भाषा पर रखी गयी है। इसके तमाम अफ़आल और तमाम हरूफ़ और ग़ालिब हिस्सा इसका हिन्दी से माखूज़ है।......"उर्दू ज़बान का शाइर जो हिन्दी भाषा मुतलक़ नहीं जानता और महज़ अरबी-फ़ारसी की तान पर गाड़ी चलाता है वह गोया अपनी गाड़ी बगैर पहियों के मंज़िले मक़सूद तक पहँचाना चाहता है।"

दूसरे साहित्यमहारथी शम्सुल उलेमा मौलाना इमदाद इमाम साहिब 'असर' की राय पढ़िये। वे कहते हैं–

उर्दू की मौजूदा शायरी फ़ारसी की शायरी के साथ बहुत मुशाबेहत रखती है। इसका सबब यह है कि उर्दू के शोअरा फ़ारसी के शोअरा का हमेशा ततब्बो (आदेश पालन) करते रहे हैं। हालाँकि तक़ाज़ाए मुल्क यह था कि उर्दू की शायरी संस्कृत की शायरी का अंदाज़ पैदा करती। ऐसी सूरत में उर्दू की शायरी का दायरा बहुत बसीअ हो जाता। मगर इस अदम तवज्जो का सबब यह मालूम होता है कि अक्सर उर्दू के शोअरा ज़बाने संस्कृत से वाक़फ़ियत नहीं रखते थे और चूँकि अरबी या फ़ारसी में महारत रखते थे, इसलिए उसी ज़बान की तबीयत थी। काश! शोअराए उर्दू संस्कृत की शायरी से मुत्तला होकर उसका चरबा (अनुकरण) उतारते तो असनाफ़े शायरी में उर्दू का दर्जा बढ़ जाता। मसलन

ड्रामानिगारी जो फ़ारसी में नहीं उर्दू में दाख़िल हो जाती और ड्रामानिगारी के दाख़िल हो जाने से उर्दू की शायरी बिलाशुबा मुमताज़ हो जाती। फ़ारसी की तरह अरबी में भी रामायण जैसी मबसूत (विस्तृत) किताबें नहीं, इसलिए अरबी को भी इस बहस से ख़ारिज समझना चाहिए।

महाकवि मिर्ज़ा ग़ालिब भी उर्दू और हिन्दी को एक ही समझते थे। उनकी राय में हिन्दी का ही दूसरा नाम उर्दू था। और इसीलिए उन्हें उर्दू को हिन्दी कहने में कभी सकोच नहीं हुआ। नीचे उनकी एक चिट्ठी उद्धृत की जाती है, जो उन्होंने अपने शिष्य मुंशी हरगोपाल तुफ़्ता को लिखी थी–

बन्दापरवर,

तुमको पहले यह लिखा जाता है कि मेरे क़दीम मीर मुकर्रमपेश हुसेन साहब की ख़िदमत में मेरा सलाम कहना और यह कहना कि अब तक जीता हूँ। और इससे ज़्यादा मेरा हाल मुझको भी नहीं मालूम''''मेरा हाल अब यह है कि शेर कहने की रविश और अगले कहे हुए अशआर सब भूल गया। मगर हाँ अपने हिन्दी कलाम में से डेढ़ शेर यानी एक मकता और एक मिसरा याद रह गया है, सो गाहे बगाहे, जब दिल उलटने लगता है, तब दस–पाँच बार यह मकता ज़बान पर आ जाता है–

ज़िंदगी अपनी जो इस तौर से गुज़री ग़ालिब–
हम भी याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे।

फिर जब सख़्त घबराता हूँ और तंग आता हूँ तो यह मिसरा पढ़कर चुप हो जाता हूँ–ऐ मर्गे नागहां तुझे क्या इन्तज़ार है।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने उपर्युक्त पत्र में अपनी कविता को हिन्दी कलाम कहा है, उर्दू नहीं कहा।

इस प्रकार एक ही भाषा लिपि की भिन्नता के कारण हिन्दी और उर्दू कहलाती थी और ज्यों–ज्यों समय बीतता गया, हिन्दी का उर्दू रूप साधारणतः फ़ारसी से पुष्ट हुआ और अन्त में उर्दू बिलकुल जुदा भाषा ही बन गयी। यदि एक ही लिपि होती तो हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों का अप्रिय झगड़ा न उठ खड़ा होता। यहाँ यह विचारना अनुचित न होगा कि अन्य प्रदेशों की भाषाओं–विशेषकर गुजरात और सिन्ध की भाषाओं पर भी फ़ारसी का प्रभाव पड़ने पर भी वहाँ एक ही भाषा रही और दूसरी भाषा उत्पन्न न हुई। गुजराती भाषा गुजरात की है। गुजरातियों में हिन्दू और मुसलमान ही नहीं, पारसी भी हैं। पारसियों की बोली और लिखावट में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बहुतायत से होता है और गुजराती साहित्यिकों को शिकायत है कि पारसियों की भाषा और वर्ण–विन्यास (हिज्जे) दोषपूर्ण हैं। हिन्दू–गुजराती और पारसी–गुजराती में कुछ–कुछ हिन्दू–हिन्दी और मुसलमानी–हिन्दी का–सा ही अन्तर है, परन्तु लिपि दोनों की एक हो होने के कारण यह अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता और वहाँ एक ही भाषा है।

सिंधी की अवस्था विलक्षण है। उसकी कोई अपनी वर्णमाला नहीं है और वह अरबी अक्षरों में लिखी जाती है। पर यह मजे की बात है कि अक्षरों के ऊपर–नीचे नुक्ते या बिंदी के बहुल प्रयोग द्वारा इन अरबी अक्षरों में संस्कृत अक्षरों के उच्चारण बना लिये गये हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों

एक ही भाषा बोलते हैं और यदि सिन्धी भाषा की कोई आर्य लिपि होती तो सिंध में भी हिन्दू और मुसलमानों में भाषा सम्बन्धी झगड़ा खड़ा होता।

हिन्दी उर्दू में लिपि का तो मुख्य भेद है ही, परन्तु जो विशेष विचारणीय बात है वह यह है कि उर्दू, फ़ारसी वा इस्लामी संस्कृति के हिमायतियों और हिन्दी आर्य वा भारतीय संस्कृति के अनुयायियों के लिए लिखी जाती है और तदनुसार दोनों में स्वदेशी वा विदेशी भाषाओं और भावों की पुट रहती है। इसीलिए राजा लक्ष्मणसिंह ने लिखा है कि "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फ़ारसी के।"[१]

भाषा में संस्कृत, तद्भव तथा देशज शब्दों अथवा अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दों की न्यूनाधिकता का कारण भी यही है। हिन्दू-मुसलमानों की साधारण बोलचाल की भाषा एक ही है। देहातों में रहनेवाले मुसलमान तो हिन्दुओं की तरह ग्राम-भाषाओं का व्यवहार करते ही हैं। परन्तु साहित्यिक भाषाएँ हिन्दू-मुसलमानों की अलग-अलग हैं और इसीलिए दोनों में सन्निकटता के बदले दूरी बढ़ती जा रही है। दोनों के फिर एक होने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि कुछ तो आवश्यकता और बहुत अधिक मनोवृत्ति अलग के ही पक्ष में है। एक अंग्रेज़ विद्वान् जॉन बीम्स कहते हैं– "हिन्दी के साधारण शीर्षक के अन्तर्गत बहुत-सी बोलियाँ हैं, जिनमें कुछ एक-दूसरी से बहुत भिन्न हैं, यद्यपि इतनी भिन्न नहीं हैं कि उनके अलग भाषा मानी जाने के अधिकार पर विचार किया जा सके। इस बड़े क्षेत्रभर में यद्यपि बोलियों में बहुत अन्तर है, एक समान सार्वत्रिक भाषा का रूप स्वीकृत किया गया है और सब शिक्षित जन उसका व्यवहार करते हैं। इस समान भाषा का उद्गम प्राचीन राजधानी दिल्ली के आस-पास कहीं जान पड़ता है और हिन्दी का जो रूप उसके आस-पास बोला जाता था धीरे-धीरे भाषा के नये स्वरूप का आधार हुआ, यद्यपि संज्ञापद और क्रियापद सर्वथा विशुद्ध हिन्दी के रहे और बहुतेरे साधारण शब्द रखे गये, तथापि बहुत-से फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दों को भी उसी प्रकार स्थान मिल गया, जैसा अंग्रेज़ी में लैटिन और ग्रीक शब्दों को। ऐसे शब्दों से किसी प्रकार भी भाषा का रूप नहीं बदला और न उस पर कोई प्रभाव ही पड़ा। भाषा के विभक्ति आदि विकारों और ध्वनितत्त्वों पर ध्यान देने से वह वैसी ही विशुद्ध आर्यभाषा वली और सौदा की रचनाओं में है, जैसी तुलसीदास और बिहारीलाल की। इसलिए हिन्दी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएँ कहना मूलतः विषय और निरुक्तशास्त्र को ठीक-ठीक न समझना है। जब कुछ आन्दोलक कहते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी न्यायालयों की भाषा उर्दू न होकर हिन्दी हो, तो उनका अभिप्राय यह होता है कि देशी लेखक और मुहर्रिर भाषा में बहुत-से अरबी-फ़ारसी शब्द लाने से रोके जायँ और वे शुद्ध संस्कृत तद्भवों का व्यवहार करें जिनकी हिन्दी में बहुतायत है। सब प्रकार से ऐसा ही हो पर यह न कहना चाहिए कि उर्दू हिन्दी से भिन्न भाषा है।

---

१. रघुवंश के गद्य हिन्दी अनुवाद की भूमिका, सन् १८७८।

इस बात के कहने का सबसे अच्छा ठीक ढंग है 'हिन्दी की उर्दू बोली' वा हिन्दी का उर्दू रूप। उर्दू में आर्य शब्दों के बिना एक भी वाक्य लिखना नितान्त असम्भव है, तथापि ऐसे बहुत-से वाक्य लिखे जा सकते हैं जिनमें एक भी फ़ारसी शब्द न आवे।[१]

इस विषय में शम्सुल उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद फ़रमाते हैं–

"उर्दू का दरख़्त अगर्चे संस्कृत और भाषा की जमीन में उगा, मग़र फ़ारसी की हवा में सरसब्ज़ हुआ है। अलबत्ता मुश्किल यह हुई कि बेदिल और नासिरअली का ज़माना क़रीब ग़ुजर चुका था और उनके मोतक़िद (अनुयायी) बाक़ी थे। वे इस्तयारों (रूपकों) और तशबीह (उपमा) के लुफ़्त में मस्त थे। इस वास्ते गोया उर्दू भाषा में इस्तयारों और तशबीह का रंग भी आया और बहुत तेजी से आया। यह रंग अगर उसी क़दर आता कि जितना चेहरे पर उबटन का रंग या आँखों में सुर्मा तो ख़ुशनुमाई (देखने) और बीनाई (ज्योति) दोनों को मुफ़ीद था। मग़र अफ़सोस कि उसकी शिद्दत ने (अधिकता ने) हमारी क़ुव्वत बयान की (वर्णन करने की शक्ति की) आँखों को सख़्त नुक़सान पहुँचाया और ज़बान को ख़याली बातों से फ़क़त तोहम्मात का स्वाँग बना दिया। नतीज़ा यह कि भाषा और उर्दू में ज़मीन आसमान का फ़र्क हो गया।" (आबेहयात, पृष्ठ ५२)

मौ० अब्दुलहक़ की राय है कि "अगर उर्दू को अरबी नशोनुमा (साहित्यिक विकास) दकन में हासिल न हुई होती (जहाँ की भाषाएँ तैलंगी और कानड़ी, अनार्थ थीं) तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फ़ारसी अरूज़ के (पिंगल के) हिन्दी अरूज़ होता, क्योंकि दोआबा गंगो-जमन में (अन्तर्वेद में) हर तरफ़ हिन्दी थी और मुल्क की आम ज़बान थी।" ('उर्दू' जनवरी १९२२)

---

1. Under the general head of Hindi are included many dialects, some of which differ widely from one another, though not so much so as to give them the right to be considered separate language. Throughout the whole of the vast region, though the dialects diverge considerably, one common universal form of speech is recognised and all educated persons use it. This common dialect had its origin apparently in the country round Delhi the ancient capital, and the form of Hindi spoken in that neighbourhood was adopted by degrees as the basis of the new phase of the language though the inflections of nouns and verbs remained purely and absolutely Hindi and a vast number of commonest vocables were retained, a large quantity of Persian and Arabic and even Turkish words found a place, just as Latin and Greek words do in English. Such words however in no way altered or influenced the language itself which, when its inflectional or phonetic elements are considered remains still a pure Aryan dialect, just as pure in the pages of Wali and Sauda or as it is in those of Tulsidas or Beharilal. It betrays therefore a radical misunderstanding of the whole bearings of the question and of the whole science of philology, to speak of Urdu and Hindi as two distinct languages. When certain agitators cry out that the language of the English courts of law in Hindustan should be Hindi and not Urdu, what they mean that clerks and native writers should be restricted from importing too many Persian and Arabic words and should use instead the honest old Sanskrit Tadbhavas with

पं० हरिशंकर शर्मा की उर्दू व्याकरण और छन्दों के विषय में यह राय है–

स्वतंत्र भाषा के लिए शब्द-कोश, व्याकरण और छंदशास्त्र का होना आवश्यक है, सो उर्दू का न कोई शब्दकोश है, न व्याकरण और न छंद। उसने सारे शब्द फ़ारसी, अरबी, तुर्की, हिन्दी और अंग्रेज़ी आदि से लिये हैं। उर्दू और हिन्दी के व्याकरण में किसी प्रकार का भेद नहीं, दोनों एक हैं। जब उर्दू हिन्दी की एक शैली है तो उसका व्याकरण भिन्न कैसे हो सकता है? रहे छंद, ये भी उर्दू में हिन्दी से ही ज्यों-के-त्यों गये हैं। यह बात अच्छी तरह देख ली गयी है कि उर्दू में जो छंद व्यवहृत होते हैं, वे हिन्दी के ही छंद हैं। बाल बराबर भी अंतर नहीं है। केवल पढ़ने का ढंग दूसरा हो गया है। यदि 'तकती' (प्रस्तार) किया जाय तो उर्दू बहर हिन्दी छंदों के अनुसार ही सिद्ध होंगे। यह विषय एक पृथक् निबंध द्वारा ही समझ में आ सकता है। ऐसा निबंध लिखा जा चुका है, और उसकी बात को उर्दू साहित्यकारों ने सहर्ष स्वीकार भी किया है।

उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में शम्सुल उलेमा मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली की नीचे लिखी पंक्तियाँ बड़ा प्रांजल प्रकाश डालती हैं। मौलाना लिखते हैं–

उर्दू के ग्रामर का दारोमदार बिल्कुल ब्रजभाषा (हिन्दी) या संस्कृत की ग्रामर पर है। अरबी-फ़ारसी से इसको सिर्फ़ इस क़दर ताल्लुक़ है कि दोनों ज़बानों के अस्मा संज्ञाएँ उसमें कसरत से शामिल हो गये हैं। बाक़ी तमाम अजज़ा (अंग) जिनके बग़ैर किसी ज़बान की नज़्मो-नस्र मुफ़ीद मानी नहीं हो सकती, ब्रजभाषा (हिन्दी) या संस्कृत की ग्रामर से माख़ूज़ है।

दोनों विद्वान् अर्थात् शम्सुल उलेमा मौलाना 'हाली' और मौलाना असर उर्दू साहित्य के सुप्रसिद्ध महारथी हैं। महाकवि हाली ने तो उर्दू शायरी के शिथिल शरीर में नवजीवन का संचार किया है। वे उचित रूप से आधुनिक उर्दू के युगप्रवर्त्तक माने जाते हैं। दोनों विद्वानों ने अब से लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व संस्कृत और हिन्दी के संबंध में उर्दूवालों को कैसी नेक सलाह दी है और हिन्दी तथा संस्कृत की महत्ता कैसे सुन्दर शब्दों में समझायी है।

उर्दू के इन महान् साहित्यकारों ने अपने विचार उस समय प्रकट किये, जब राजनीतिक खींचातानी नहीं थी। सब लोग साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखते थे। दोनों साहित्यकारों का यही अभिप्राय है कि उर्दूवालों को संस्कृत न सही, हिन्दी तो अवश्य ही सीखनी चाहिए और संस्कृत साहित्य की भावनाओं से अपने इल्मोअदब को अनुप्राणित करना चाहिए। हम देखते हैं कि पहले समय में उर्दू को हिन्दी कहने में किसी मुस्लिम उर्दू साहित्यकार को आपत्ति नहीं थी। ग़ालिब तो बराबर उर्दू को हिन्दी ही कहते-लिखते रहे।

●

---

which the Hindi abounds, By all means let it be so, but it need not be said that Urdu is a distinct language than Hindi.

1. The most correct way of speaking would be to say "the Urdu dialect of Hindi" or the "Urdu phase of Hindi." It would be quite impossible in Urdu to compose a single sentence without using Aryan words, though many sentences might be composed in which not a single Persian word occured. A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages Vol. I, Introduction pp. 31 and 32.

# मुसलमानी हिन्दी या उर्दू

बहुत दिनों तक हिन्दू देवनागरी या हिन्दी अक्षरों में और मुसलमान फ़ारसी अक्षरों में हिन्दी लिखते रहे। कितने ही मुसलमान कवियों ने हिन्दुओं की तरह ही हिन्दी में कविता भी की। परन्तु धीरे-धीरे उनकी हिन्दी ने फ़ारसी पोशाक पहननी शुरू की और इस तरह हिन्दू हिन्दी से अलग होने लगी। अमीर ख़ुसरो ने १४वीं ईस्वी शताब्दी में जो कुछ कविता की, वह फ़ारसी अक्षरों में ही लिखी रही, तथापि हिन्दी कविता करने के समय उनकी दृष्टि हिन्दुस्थान की ओर ही विशेष थी, इसलिए उसमें मुसलमान भावों की अधिकता नहीं है। किन्तु उनके बाद जिन मुसलमान विद्वानों ने हिन्दी को अपनी भाषा बनाया, वे ईरानियों और तुर्किस्तानियों की सन्तति होने के कारण बचपन से ही शेमेटिक आबोहवा में पले थे, इसलिए स्वभावतः वहीं के भाव उनकी कविता में आ जाते थे।

उर्दू का आदि कवि कौन है इस विषय में कुछ मतभेद है, क्योंकि कोई अमीर ख़ुसरो से उसका सम्बन्ध लगाते हैं और कोई कहता है कि अकबर के ज़माने में फ़ैजी के दोस्त गुजरात के शुजाउद्दीन नूरी ने उर्दू में पहले ग़ज़लें कहीं। ये गोलकुण्डे के सुल्तान अबुलहसन कुतुबशाह के वजीर के बेटे के उस्ताद थे। इनके बाद गोलकुण्डे के कुली कुतुबशाह (शासन-काल १५८१ से ८६) और इनके उत्तराधिकारी अब्दुल्ला कुतुबशाह, जो १६११ ईस्वी में तख़्तनशीन हुए थे, बहुत-सी ग़ज़लें, रुबाइयाँ, मस्नवियाँ और क़सीदे छोड़ गये हैं। परन्तु अहमदाबाद के शम्सवलीउल्ला 'वली' ही उर्दू के पहले शाइर माने जाते हैं और 'बाबाए रेख़्ता' कहलाते हैं। ये औरंगज़ेब के ज़माने में दिल्ली भी गये थे और वहाँ शेख सईदउल्ला गुलशन से फ़ारसी भावों और विचारों को हिन्दुस्तानी जमा पहनाना सीखा था। गुजरात तो दिल्ली से दक्षिण में है और गोलकुण्डा दक्षिण हैदराबाद के पास है, इसलिए वहाँ मुसलमान जो भाषा उत्तर से ले गये और जिसमें उन्होंने शाइरी की, वह दखनी या दकनी कहलायी। फिर तो हैदराबाद में इस दखनी को फलने-फूलने का बहुत मौक़ा मिला।

मुहम्मदशाह के ज़माने में (१७१९ में) जब वली का दीवान दिल्ली पहुँचा, तब सबसे पहले उन्हीं के ढंग पर हातिम ने दिल्ली की हिन्दी या उर्दू में ग़ज़लें लिखीं। इनके बाद तो नाजी, मजनू और आबरू अच्छे शाइर हुए। शाहआलम बादशाह खुद बहुत अच्छे शाइर हुए हैं और उनके चार दीवान उर्दू में मौजूद हैं। उनका तख़ल्लुस या कविता का उपनाम जिसे छाप कहते हैं, 'आफ़ताब' (सूर्य) था। इसलिए कहा जाता है कि आलमगीर के अहदमें नज़्म का (पद्य का) जो चिराग़ वली ने रौशन किया, वह शाहआलम के ज़माने में आफ़ताब होकर चमका। सौदा आबरू के ही शागिर्द थे। १७३९ में नादिरशाही के बाद दिल्ली की कला क्षीण होने लगी और १७५६ में अहमदशाह दुर्रानी के हमले के बाद तो दिल्ली से आर्ज़ू, सौदा और मीर तक़ी-जैसे बहुत-से शाइर लखनऊ चले आये, क्योंकि इसकी चढ़ती कला थी और नवाब आसफ़ुद्दौला अच्छे क़द्रदाँ थे। मीरसोज़, मीरहसन और क़लन्दर बख़्श

ज़ुर्रत भी लखनऊ आ पहुँचे और इस तरह ज़बाँदानी का दिल्ली का दावा ख़ारिज हो गया। ज़ुर्रत और मिरज़ा मज़हर जानेजानाँ हिन्दी की कविता भी करते थे और दोहे कवित्त बनाते थे। परन्तु इनकी हिन्दी कविता प्रसिद्ध नहीं है। कहीं छपी भी देखने में नहीं आयी।

जैसा पाठक जानते हैं, वली का 'बाबाए रेख़्ता' होने का दावा नहीं माना जा सकता, क्योंकि असल 'बाबाए रेख़्ता' ख़ुसरो हैं और इनके बाद कबीर का हक़ है और वली का हक़ अगर है तो उनका नम्बर चौथा है। भाषा का सबसे पुराना नाम हिन्दवी वा हिन्दी है। इसके बाद का नाम रेख़्ता है, पर शाह आलम के ज़माने के पहले कोई उसे 'उर्दू' नाम से नहीं पहचानता था, क्योंकि कहा जाता है, मशहूर शाइर मिरज़ा मुहम्मद रफ़ी सौदा शागिर्द तो शाह हातम के थे, मगर ख़ान आर्ज़ू की संगत से बहुत लाभ उठाया था। ख़ान आर्ज़ू ने ही उन्हें फ़ारसी के बदले में उर्दू में कविता करने की सलाह इस तरह दी थी—"मिरज़ा अब फ़ारसी तुम्हारी ज़बान मादरी नहीं, इसमें ऐसे नहीं हो सकते कि तुम्हारा क़लाम अहले ज़बान के मुक़ाबिले में क़ाबिले तारीफ़ हो। तबै मौज़ूँ है। शेर से निहायत मुनासिब रखती है, तुम उर्दू कहा करो।"

दिल्ली उजड़ने पर हिन्दुस्तान में तीन मुसलमानी सल्तनतें क़ायम हुईं, हैदराबाद, मुर्शिदाबाद और लखनऊ। यद्यपि दक्षिण से ही उर्दू की शाइरी शुरू हुई, तथापि दिल्ली में सचमुच शाइरी कहलाने योग्य हुई और लखनऊ ने उसको रौनक़ बख़्शी। पहले तो दिल्ली के शाइर ही लखनऊ आये थे, उनकी नवाब आसफ़ुद्दौला ने अच्छी इज़्ज़त की और ६०००) सालाना तलब कर दी। बाद को लखनऊ में भी अच्छे शाइर हुए और ऐसे हुए कि दिल्ली से कई बातों में वैसे ही स्वतंत्र हो गये, जैसे नवाब दिल्ली के बादशाह से स्वतंत्र हुए थे। वर्तमान भाषा का रूप सुरूप करने में लखनऊवालों का बड़ा हाथ है।

पहले उर्दू में भी ऐसे शब्द और प्रत्यय तथा कारकान्त चिह्नों का प्रयोग होता था, जिन्हें आज हिन्दीवाले भी गँवारी या अशिष्ट समझते हैं; जैसे 'से' की जगह 'सों'—

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाहसों।।

उर्दू शाइरों ने बुलबुल, जान, दीद (दर्शन) और सैर को पुँल्लिग भी लिखा है, यद्यपि ये स्त्रीलिंग ही हैं। सुनिये—

एक लहजा और भी वह उड़ाता चमन का दीद।
फ़ुर्सत न दी ज़माने ने इतनी शरार को।। (मीर दर्द)
सुनै है मुर्ग़े चमन का तु नाला ऐ सैयाद।
बहार आने की बुलबुल ख़बर लगा कहने।। (सौदा)
सैर चमन को चलिये बुलबुल पुकारते हैं। (आतिश लखनवी)
कहा तबीब ने अहवाल देखकर मेरा।
कि सख़्त जान है सौदा का आह क्या कीजै।।
बुतांका दीद मैं करता हूँ शेख़ जिस दिन से।
हवाल तब से मय यूब यूँ मेरे दिल से।।

करें शुमार बहम दिल के यार दाग़ों का।
तू आ कि सैर करें आज दिल के बाग़ों का।।

दिल्लीवाले पै और पर, तलक और तक, कभू और कभी दोनों लिखते थे। पर लखनऊवालों ने पर, तक और कभी ले लिये और बाक़ी छोड़ दिये। रखा और रक्खा, बिठाना और बैठाना, पिन्हाना और पहनाना इनमें पिछले रूप स्वीकृत और पहले त्याज्य ठहरे। ईजाद और कलाम पुँल्लिग हैं, पर कोई स्त्रीलिंग भी बोलते हैं। तर्ज़ स्त्रीलिंग है, पर पुँल्लिग भी बोलते हैं। इस बाब में–सम्बन्ध में अर्थ में बोलते थे। अब लखनऊवालों ने 'इस वारे में' बोलना शुरू किया। ग़दर के पहले दिल्लीवाले न बोलते थे, अब सब बोलते हैं। वर्तमानकालिक क्रिया में 'आय है, जाय है' प्रयोग चलते थे, अब सब लोग 'आता है, जाता है,' लिखते बोलते हैं।

मुसलमान शाइर और आलिम हिन्दुस्तान में रहते अवश्य थे, पर यहाँ के साहित्य का अध्ययन उनमें बिरले ही किसी ने किया था। उनकी जो पीढ़ी यहाँ पैदा हुई, वह भी ईरानी और अरबी संस्कृति में ही पली, जिसका फल यह हुआ कि जब उसने इस देश की भाषा हिन्दी को अपनाया तो इसमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दों की बहुतायत ही नहीं कर दी, बल्कि अरबी, फ़ारसी भावों और संस्कृति से इस प्रकार भर दिया कि नाम को तो यह भाषा हिन्दी रह गयी, पर वास्तव में मुसलमानी या फ़ारसी हिन्दी होकर इसने उर्दू नाम पाया। उर्दू ने फ़ारसी का अनुकरण बेतरह किया है। यहाँ तक कि इतिहास, कहानियाँ और कहावतें तक फ़ारसी की ले लीं और उदाहरण और दृष्टान्त भी वहीं की चीजों, आदमियों और जगहों, नदियों और पहाड़ों के दिये, जिन्हें कभी स्वप्न में भी नहीं देखा था। देखिये यहाँ भीम और अर्जुन की वीरता प्रसिद्ध है, पर सौदा ने वीरता शूरता के लिए रुस्तम और साम को याद किया और कहा कि–

रुस्तम रहा ज़मीपे न साम रह गया।
मर्दों का आस्माँ के तले नाम रह गया।।

रूपराशि का वर्णन करने के समय भी उर्दू शाइरों ने द्रौपदी, दमयंती–जैसी भारतीय ललनाओं के नाम नहीं लिये, बल्कि सुन्दरता की तुलना करने बैठे तो, लैली और शीरीं को ले आये। अब तो शीरीं–फ़रहाद और लैला–मजनूँ के क़िस्से हिन्दुओं को भी अच्छी तरह मालूम हो गये, क्योंकि थियेटरों और बाइसकोपों में भी दिखाये जा रहे हैं। परन्तु उर्दूवालों ने कभी इसकी परवा नहीं की कि हिन्दुस्तान के लोग उनकी शाइरी समझते हैं या नहीं। इतने से ही अन्त नहीं हुआ। मजनूँ और फ़रहाद जब रोये, तब उनकी आँखों से गंगा और जमुना तो बह नहीं सकती थीं। इसलिए जीहों–सीहों[१] नाम की नदियाँ भी यहाँ लानी पड़ीं। फिर हिमालय, विन्ध्याचल के बदले कोहे बेसतूँ, क़स्त्रे शीरीं और कोहे अलबन्द भी लाये गये। सारांश, कविता होती थी हिन्दुस्तान में बैठकर, पर मन सैर करता था ईरान की ओर। कभी– कभी कोई शाइर यहाँ की उपमाएँ भी काम में लाते थे, जैसे इनशा ने किया है। सुनिये–

मिले पारे से जो हड़ताल करके राख का जोड़ा।
तो ताँबेसुरजी उगलें कोई नब्बे लाख का जोड़ा।।

---

१. तूरान की नदियाँ।

नहीं कुछ भेद से खाली यह तुलसीदासजी साहब!
लगाया है जो इक भौंरे से तुमने आँख का जोड़ा।।
लिपटकर किरशनजी से राधका हँसकर लगी कहने।
मिला है चाँद से ये लो अँधेरे पाख का जोड़ा।।
यह सच समझो कि इनशा है जगत सेठ इस ज़माने का।
नहीं शेरो सख़ुन में कोई इसके साख का जोड़ा।।
ऐ इश्क़ अजी आओ महाराजों के राजा डंडवत है तुमको।
कर बैठे हो तुम लाखों करोड़ों ही के सर चट इक आन में चटपट।।
यह जो महन्त बैठे हैं राधा के कुंड पर।
अवतार बनके गिरते हैं परियों के झुंड पर।। इत्यादि

सौदा ने भी मौज में आकर कभी हिन्दुस्तानी विशेषताओं का ध्यान रखकर शेरें कही हैं, जिनमें कुछ नीचे उद्धृत की गयी हैं–

तर्कश उलेंड़ सीना आलम का छान मारा।
मिज़गाँ[१] ने तेरे प्यारे अर्जुन का बान मारा।।
मुहब्बत के करूँ भुजबल की मैं तारीफ़ क्या यारो।
सितम पर्बत हो तो उसको उठा लेता है जूँ राई।।
नहीं है घर कोई ऐसा जहाँ इसको न देखा हो।
कन्हैया से नहीं कुछ कम सनम मेरा वह हरजाई।।
सावन के बादलों की तरह से भरे हुए।
यह वह नैन हैं जिनसे कि जङ्गल हरे हुए।।

परन्तु सच तो यह है कि उर्दू के अधिकांश कवियों की दृष्टि सदा पश्चिम की ओर रही और बुलबुल, गुल, शराब, इश्क़, बुत, काफ़िर, सूफ़ी, बिरहमन, वाइज़ या नासह, रोज़े महशर, शेख़ और ज़ाहिद, ख़िज्र, शैतान, मसीहा, आदम और हौवा के सिवा शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ और यूसुफ़-ज़ुलेख़ा की चर्चा से उनकी कविता ओतप्रोत दिखायी देती है। इन सबका सम्बन्ध फ़ारस, अरब आदि देशों से है और इसीलिए जो इन्हें नहीं जानता, वह उर्दू कविता नहीं समझ सकता, क्योंकि किस मतलब से क्या कहा गया है, यह बिचारा हिन्दुस्तानी आदमी क्या जाने, जब तक उसने इनके सम्बन्ध का साहित्य न पढ़ा हो।

रात को प्रेमालाप में साक़ी का आना वाजिब समझा जाता है, साक़ी अरबी शब्द है और इसके लिए यहाँ कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। शराबफ़रोश को यहाँ सूड़ीं, कलवार या कलार कहते हैं और दूकान सूँड़ीख़ाना या कलवरिया कहलाती है। पर साक़ी सूँड़ी या कलवार नहीं है, यह तो जलसे में

१. मिज़गां = पलकें।

शराब पिलाने आता है। इसका काम प्याले भर-भरकर लोगों को देना है। शराब पीने की रस्म यहाँ इस तरह नहीं थी, इसलिए साक़ी भी नहीं था। शराब की प्रशंसा करते उर्दू शाइर कभी नहीं थकते।

मस्ती वो बेख़ुदी में आसूदगी[१] बहुत थी।
पाया न चैन हमने तर्के शराब करके।। (मीर)
लुत्फ़े मय तुझसे क्या कहूँ ज़ाहिद?
हाय कमबख़्त तूने पी ही नहीं।। (दाग़)
पिला मय आशकारा[२] हमको किसकी साक़िया चोरी।
ख़ुदा की जब नहीं चोरी तो फिर बन्दे की क्या चोरी।। (ज़ौक)
बहार आयी है भर दे बादए[३] गुलगूँ से पैमाना।
रहे लाखों बरस साक़ी तेरा आबाद मयख़ाना।।
मय भी है मीना[४] भी है साग़र[५] भी है साक़ी नहीं।
जी में आता है लगा दें आग मयख़ाने को हम।। (गोया)

सब शाइर शराबी ही नहीं थे, परन्तु प्रेम को शराब की उपमा और प्रेमपात्र (माशूक़) को साक़ी की उपमा देने के कारण वे साक़ी और शराब की प्रशंसा में मस्त हो जाते थे। उर्दू शाइर फ़ारसी और अरबी संस्कारों के कारण आस्मान या फ़लक को जली-कटी सुनाया करते हैं, क्योंकि ये समझते हैं कि आस्मान हमेशा घूमा करता है, इसलिए दूसरों को भी सुख से बैठे नहीं देख सकता।

मुसलमानी मतानुसार एक दिन वे सब आदमी ख़ुदा के हुज़ूर में हाज़िर किये जायँगे, जो मर चुके हैं और उनके अच्छे-बुरे कामों के लिए परमेश्वर उन्हें स्वर्ग (जन्नत या बिहिश्त) अथवा नरक या दोज़ख़ में भेजेगा। बिहिश्त में शराब की नदियाँ और परियाँ मिलेंगी और दोज़ख़ में जलती हुई आग का सामना करना पड़ेगा। मुसलमानों का विश्वास है कि जो तोबा (पश्चात्ताप) करेगा, उसके अपराध क्षमा कर दिये जायँगे तथा ईश्वर बड़ा दयालु है; वह यों भी सबको क्षमा कर देगा।[६] यही रोज़े महशर या इन्तक़ाम या क़यामत का दिन कहलाता है। ईसाई भी विश्वास करते हैं कि न्याय का एक दिन आवेगा। इस रोजे महशर पर भी बहुत-सी कविताएँ हैं।

क़रीब है यार रोज़े महशर छिपेगा कुश्तों का[७] खून क्यों कर ?
जो चुप रहेगी ज़बान खंजर लहू पुकारेगा आस्तीं का।। (दाग़)

---

१. तुष्टि। २. खुल्लमखुल्ला। ३. शराब। ४. शराब का शीशा। ५. प्याला। ६. यह फ़ारसी पद्य इसी भाव का द्योतक है—

शुनीदम् कि दर रोज़े उम्मेदो बीम।
बदाँरा बनेकां बेबख़्शद् करीम।।

अर्थात्—मैंने आशा और भय के बीच यह सुना कि कृपालु परमेश्वर बुरों को भी अच्छों के साथ क्षमा कर देगा।

७. मारे हुओं का।

है यह ज़ुल्म चन्द रोज़ा है एक दिन इन्तक़ाम का भी।
अमीर हम्माम गर्म कर लें ग़रीब का झोंपड़ा जलाकर।। (अमीर)

उर्दू कवियों को आशा है कि रोज़े महशर को जिसे रोज़े हशर भी कहते हैं, उनका और उनके माशूक़ का इन्साफ़ होगा और इसी पर वे अपने मन को समझाया करते हैं। कभी-कभी कई उर्दू शाइरों ने यह सन्देह भी प्रकट किया है कि शायद इन्साफ़ न हो।

शराब की तरह इश्क़ (प्रेम), आशिक़ (प्रेमी) और माशूक़ (प्रेमपात्र) पुरानी उर्दू कविता की जान हैं। इन्हें निकाल डालें, तो फिर कुछ नहीं रह जाता। बुत का अर्थ मूर्ति या प्रतिमा है। पर उर्दू कविता में यह और इसका अरबी प्रतिशब्द 'सनम' माशूक़ के लिए आते हैं। माशूक़ का वासस्थान बुतख़ाना या दैर कहलाता है और आशिक़ सनमपरस्त या बुतपरस्त (प्रतिमापूजक वा प्रेमपात्र का पुजारी) है। यों तो क़ुरान के अनुसार काफ़िर वह है जो ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे की प्रार्थना इस आशा से करता है कि यह उसे वह वस्तु देगा, जो केवल ईश्वर ही दे सकता है। परन्तु कवियों ने माशूक़ के लिए काफ़िर शब्द का प्रयोग किया है। एक शाइर का कलाम है-

मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का।
उसी को देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पै दम निकले।।

फ़ारसी के एक सूफ़ी कवि ने अपने को इश्क़ का काफ़िर कहा है; जैसे-

काफ़िरे इश्क़म् मुसलमानी मरा दरकार नेस्त।
हर रगे मन तार गश्ता हाजते ज़ुन्नार नेस्त।।

कहता है कि मैं इश्क़ का-प्रेम का काफ़िर दीवाना हूँ। मुझे मुसलमान होने की ज़रूरत नहीं है और जो कहो कि तुम जनेऊ भी तो नहीं पहने हो, तो मेरी रग-रग में तार गया हुआ है, इसलिए मुझे जनेऊ भी दरकार नहीं है।

वाइज़ या नासह वाज़ 'उपदेश' देनेवाले को कहते हैं। परन्तु उर्दू शाइरों ने धर्म के ठेकेदारों या ढोंगियों के लिए इसका प्रयोग किया है, जो आप तो धर्म का ढोंग रचते हैं और जो आडम्बरशून्य सच्चे भगवद्भक्त होते हैं तथा रूढ़ियों का पालन नहीं करते, उनको पथभ्रष्ट कहकर उनकी निन्दा करते हैं। इसीलिए उर्दू शाइरों ने वाइज़ों की हँसी उड़ायी है। ग़ालिब कहते हैं-

कहाँ मयख़ाने का दरवाज़ा ग़ालिब और कहाँ वाइज़।
पर इतना जानते हैं कि कल वह जाता था कि हम निकले।।

इस्लाम में शराब पीना हराम है और वाइज़ सबको यही उपदेश दिया करते हैं। परन्तु यह 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' है, यही ग़ालिब ने इस शेर में बड़ी ख़ूबी से बताया है। कवि का कहना है कि शराबख़ाने के दरवाज़े और वाइज़ में बड़ा अन्तर है, क्योंकि शराब न पीने का उपदेश देना उसका काम है, इसलिए शराबख़ाने के दरवाज़े तक वह पहुँच ही नहीं सकता। फिर भी यह हम जानते हैं कि जब वह अन्दर जा रहा था, तब हम निकल रहे थे। कैसी मीठी चुटकी है।

शेख़ और ज़ाहिद भी ऐसे ही शब्द हैं। शेख़ तो बुर्जुग को कहते हैं और ज़ाहिद परहेज़गार, मद्यपान आदि व्यसनों से दूर रहनेवाला है। प्रर उर्दू शाइरों ने इन शब्दों का प्रयोग पाखंडियों और बगुलाभगतों के लिए किया है और जगह-जगह इनकी धूल उड़ायी है।

ज़ाहिद[१] न तुम पियो न किसी को पिला सको।
क्या बात है तुम्हारी शराबे तहूर[२] की। (ग़ालिब)
किसी की तो ज़ाहिद को होती मुहब्बत।
बुतों की न होती ख़ुदा की तो होती।।
हुआ है चार सिजदों पर ये दावा ज़ाहिदो तुमको।
ख़ुदा ने क्या तुम्हारे हाथ जन्नत[३] बेच डाली है?
तके है ज़ाहिद शराबे गुलगूँ[४] हुआ है दिल भी ख़राब आधा।
ख़िला दे साक़ी बला से इसको डूबो के तू भी कबाब आधा।। (सैयद)
ज़ाहिद शराब पीने दे मस्ज़िद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर ख़ुदा न हो।।
ये शेख़ जी जो मुसल्ला[५] बिछाये बैठे हैं।
बुतों की याद में आसन जमाये बैठे हैं।।
किसी पर मर मिटे होंगे मये[६] गुलगूँ भी पी होगी।
जवानी में जनावे शेख़ ने क्या कुछ न की होगी।।

सिजदा कहते हैं नमाज़ में सिर झुकाने को। शायद नमाज़ न पढ़नेवाले किसी को ज़ाहिदों ने छेड़ा है। इस पर वह कहता है कि तुम चार सिजदों पर बड़े धार्मिक होने की डींग मार रहे हो। क्या ख़ुदा ने तुम्हारे हाथ स्वर्ग बेच डाला है कि जिसको चाहोगे जाने दोगे, बाक़ी को रोक दोगे? चूँकि ज़ाहिद कर्मकाण्डवादी होता है, इसलिए उसमें कर्मठपन भले ही हो, प्रेम नहीं होता; ईश्वर का भी प्रेम नहीं होता। यह भी इसका भाव है। शेख़ जी के ढोंग के बारे में कवि कहता है कि जवानी में इन्होंने सब किया होगा—शराब भी पी होगी और किसी पर आशिक़ भी हुए होंगे। पर इस समय "सत्तर मूसे तोड़ बिलाई चली हज को।"

ख़िज़्र मुसलमानों के एक फ़रिश्ते या देवदूत का नाम है। हिन्दुओं में अश्वत्थामा[७], बलि, व्यास,

---

१. पाठान्तर—वाइज। २. स्वर्ग। ३. बिहिश्त, स्वर्ग। ४. लाल रंग। ५. जाय नमाज़, जिस कपड़े पर बैठकर नमाज़ पढ़ते हैं। ६. शराब।

७. अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः।।
सप्तै तान्स्मरेन्नित्यं मार्कण्डेय यथाष्ट्मम्।
जीवेद्वर्षशतं साग्रमपमृत्यु विनश्यति।।
(आनन्द रामायण)

हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम और मार्कण्डेय चिरंजीव हैं, वैसे ही मुसलमानों में ख़िज्र भी चिरंजीव हैं। मुसलमानों का विश्वास है कि ये भूले-भटकों को राह बताया करते हैं। महाकवि दाग़ का शेर है–

हम एक रास्ता गली का उसकी दिखा के दिल को हुए पशेमां।
ये हज़रते ख़िज्र को जता दो किसी की तुम रहबरी न[१] करना।।

ख़िज्र के नाम पर ही कलकत्ते का एक मुहल्ला बसा है, जिसे लोग खिदिरपुर कहते हैं। वास्तव में वह ख़िज्रपुर है।

शैतान भी एक फ़रिश्ते या देवदूत का नाम है। क़ुरान के अनुसार जब ख़ुदा ने आदम को पैदा किया, तब सब फ़रिश्तों को हुक्म दिया कि इसको सिजदा–नमस्कार करो। शैतान को छोड़ सबने नमस्कार किया। शैतान ने नमस्कार न करने का यह कारण बताया कि "तूने मुझे तो आग से पैदा किया है और आदम को मिट्टी से, इसलिए मैं इसे क्यों सिजदा करूँ ?" ख़ुदा को शैतान का यह घमण्ड बुरा मालूम हुआ, इससे उसने इसे बिहिश्त से निकाल दिया। शैतान ने अपनी पूजा का पुरस्कार माँगा कि मुझे क़यामत के दिन तक की ज़िन्दगी मिल जाय। जब ख़ुदा ने यह बात मान ली, तब इसने कहा कि मैं तेरे बन्दों को बहकाया करूँगा। ख़ुदा ने कहा कि जो मेरे भक्त होंगे, वे तेरे बहकावे में न आवेंगे।

आदम और हव्वा उन पुरुष और स्त्री के नाम हैं, जिन्हें मुसलमानी मतानुसार ख़ुदा ने बिना बाप-माँ के पैदा किया था। दुनिया में आने के पहले वे बिहिश्त में रहा करते थे। ख़ुदा ने उन्हें गेहूँ के पेड़ का फल खाने से मना किया था, पर शैतान के बहकावे में आकर हव्वा ने आप वह निषिद्ध फल खाया और अपने पति को भी खिलाया। इसलिए ख़ुदा ने बिहिश्त से इन्हें निकाल दिया। महाकवि ग़ालिब ने इस शेर में इसी बात की ओर इशारा किया है –

निकलना ख़ुल्दसे[२] आदम का सुनते आये थे लेकिन।
बहुत बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।।

ईसामसीह ईसाई मत के तो प्रवर्त्तक हैं ही, परन्तु मुसलमान भी उन्हें अपना एक पैग़म्बर मानते हैं। ईसा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे रोगियों को अच्छा कर देते थे और मुर्दों तक को जिला देते थे। माशूक़ की कृपा-दृष्टि से आशिक़ का रोग दूर हो जाता है–यही कारण है कि उर्दू कवि माशूक़ को ईसा या मसीह या मसीहा कहते हैं; जैसे–

वादा है मेरे मसीहा से यहाँ आने का।
एक दम और न आये जो अजल[३] आयी हो।।

---

१. रास्ता बताना।
२. स्वर्ग।
३. मौत की मुक़र्रर घड़ी।

शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ और ज़ुलेखा-यूसुफ प्रसिद्ध माशूक़ और आशिक़ हैं। शीरीं ईरान की बड़ी रूपवती स्त्री थी और चीन का चित्रकार फ़रहाद इस पर मोहित था। ईरान का शाह ख़ुसरो भी इस पर आसक्त था और किसी प्रकार अपने महल में इसे ले गया था। परन्तु शीरीं का फ़रहाद से प्रेम था, इसलिए इसके विरह में वह रोया करती थी। ख़ुसरो ने यह देख शीरीं से कहकर फ़रहाद के प्रेम की परीक्षा करनी चाही और वह इस प्रकार कि फ़रहाद पहाड़ खोदकर महल तक नहर ले आवे और यदि वह ऐसा कर देगा तो पुरस्कार में शीरीं को प्राप्त कर लेगा। फ़रहाद ने जब नहर निकाल दी, तब शाह ने फ़रहाद से कहा कि शीरीं मर गयी। इस पर फ़रहाद ने आत्महत्या कर ली और जब शीरीं को यह मालूम हुआ तो इसने भी आत्मघात कर लिया।

मजनूँ, जिसका असली नाम क़ैस था, अरब के नेज्द[१] देश का रहनेवाला था। वह अरब-रमणी लैला के प्रेम में इतना उन्मत्त रहता था कि तन-बदन की ख़बर न रखता था। उर्दू कवियों ने अपने को मजनूँ और फ़रहाद और कभी-कभी इनसे भी बढ़कर सिद्ध करने की चेष्टा की है। एक शाइर अपने माशूक़ से कहता है-

क़ैसो फ़रहाद के क़िस्से तो सुना करते हो लेकिन।
दाद दो इसकी कि हमने तुम्हें कैसा चाहा।।

यूसुफ़ मुसलमानों के एक पैग़म्बर थे और किनान[२] देश में रहते थे। कहते हैं कि संसार के सौन्दर्य का तीन-चौथाई भाग उनमें था। परन्तु भाइयों ने डाहकर उन्हें मिस्र के किसी सौदागर के हाथ बेच दिया और उस सौदागर ने वहाँ के राजा के हाथ बेच दिया। राजा की स्त्री ज़ुलेख़ा उन पर आसक्त हो गयी और इसने उन्हें अपने वश में लाने में कोई बात उठा नहीं रखी। जब वे इसके फेर में नहीं आये तब इसने उन्हें बन्दीगृह में डलवाकर अनेक कष्ट दिये। अन्त में जब राजा को यह भेद मालूम हुआ तो उसने उन्हें अपना युवराज बना लिया। कुछ दिनों में वे मिस्र के राजा हो गये। पुत्र-वियोग से उनके पिता याक़ूब की आँखों की ज्योति जाती रही थी, पर इनका समाचार सुनकर फिर ज्योति आ गयी। उर्दू कवियों ने अपनी कविता में मिस्र के जेलख़ाने, हज़रते याक़ूब की आँखों की रोशनी तथा यूसुफ़ की सुन्दरता का अच्छा वर्णन किया है-

तुम वो यूसुफ़ हो कि अच्छा भी तमाशाई[३] हो।
दीदए हज़रते याकूब की बीनाई हो[४]।।

●

१. नेज्द सऊदी अरब का अंग है। २. नेज्द राज्य में हेजाज़ मिल जाने से सऊदी अरब बना है।
३. यही आजकल लेबनान है। ४. दर्शक, तमाशा देखनेवाला। ५. नेत्र-ज्योति।

# सूफ़ी मत और इश्क़

सूफ़ी, इश्क़, आशिक़ और माशूक़ ऐसे शब्द हैं जिनका उर्दू-फ़ारसी की कविता में बहुत अधिक प्रयोग हुआ और होता है। इसलिए इनके सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखने का प्रयोजन है। सूफ़ी शब्द यूनानी (यवन या ग्रीक) भाषा के सूफ़िया शब्द से निकला है या अरबी के सूफ़ शब्द से, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु सूफ़िया से बनना बहुत सम्भव है, क्योंकि इसका अर्थ बुद्धिमत्ता है और सूफ़ी ईश्वर-प्रेमी होने के कारण बुद्धिमान् समझे भी जाते हैं। अरबी में सूफ़ का अर्थ ऊन या पशमीना है और ईरानी साधु बहुधा ऊनी कपड़े पहनते हैं, इसलिए ईश्वर-प्रेमी साधु सूफ़ी कहलाने लगे हों तो आश्चर्य नहीं।

सूफ़ियों का मत तसव्वुफ़ कहलाता है और यह एक प्रकार का वेदान्त है। सूफ़ियों का कहना है कि सब आत्माएँ ईश्वर से निकली हैं और अन्त में उसी की ओर लौट जायँगी। जो कुछ उसने बनाया है, सब में उसी की आत्मा है। ईश्वर-प्रेम के सिवा सब व्यर्थ है। सांसारिक जीवन माशूक़ वा ईश्वर से वियोग है। कट्टर मुसलमान सूफ़ियों को रिन्द मज़हबी बातों का न माननेवाला कहते हैं। परन्तु फ़ारसी और उर्दू शाइरों ने सूफ़ियों का अनुकरण करने में ही गौरव समझा है और 'निर्भीक' अर्थ में रिन्द शब्द का अपने लिये प्रयोग भी किया है। सारांश, सूफ़ी मत एकात्मवाद वा सर्वात्मवाद है।

सूफ़ी अपने को आशिक़ और ईश्वर को माशूक़ या प्रेमपात्र मानते हैं। इश्क़ वा प्रेम दो तरह का होता है, एक इश्क़े हक़ीक़ी और दूसरा इश्क़े मजाज़ी। इश्क़े मजाज़ी का अर्थ सांसारिक वस्तुओं या मनुष्यों से प्रेम है। हक़ ईश्वर को कहते हैं, इसलिए इश्क़े हक़ीक़ी ईश्वर-प्रेम है। ख़ुदा माशूक़ हक़ीक़ी और इन्सान माशूक़े मजाज़ी है। इश्क़े हक़ीक़ी का दूसरा नाम इश्क़े कामिल भी है। बहुत-से उर्दू शाइरों की समझ है कि इश्क़े मजाज़ी इश्क़े हक़ीक़ी की सीढ़ी है और इसीलिए उर्दू शाइरी आशिक़-माशूक़ की बातों से सराबोर है।

सूफ़ी मत इस्लाम का अंग रहने पर भी कट्टर मुसलमान इसे कुफ़्र और सूफ़ी को रिन्द और काफ़िर तक कह डालते हैं। इस कारण यह है कि तसव्वुफ़ का मूलाधार वेदान्त का अद्वैतवाद है और योग तथा भक्ति का पुट देकर वह मुसलमानी साँचे में ढाल लिया गया है। अरब और ईरान आदि मुसलमानी देशों से भारत का सम्बन्ध था और चूँकि वेदान्त के ब्रह्मवाद से इस्लाम के तौहीद वा एकेश्वरवाद का सामञ्जस्य हो जाता था, इसलिए वहाँ एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया, जो ऊपर से मुसलमान रहने पर भी भीतर से प्रेममार्गी वेदान्ती बन गया। किसी समय तो तसव्वुफ़ के एकात्मवाद वा सर्वात्मवाद ने ईराक़ अरब के सब वादों को दबा दिया था। अरब के बड़े-बड़े विद्वान्

सूफ़ी बनने लगे थे। बसरे के उमर-बिन उस्मान मकी ने तसव्वुफ़ पर कई बड़े अद्भुत ग्रन्थ लिखे थे, परन्तु किसी अनधिकारी को कभी नहीं दिखाते थे।

यह प्रसिद्ध है कि श्री रामानुजाचार्य के गुरु ने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र देकर उनसे कहा था कि यह किसी को न बताना, परन्तु श्री रामानुज ने गुरु जी की आज्ञा न मान ऊँचे पर चढ़ लोगों को ज़ोर-ज़ोर से सुनाना शुरू किया। इसका कारण यह था कि आचार्य ने समझा कि गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने का जो दोष होगा, वह मुझे होगा; परन्तु लोगों को कल्याणी वाणी श्रवण करने से जो लाभ होगा, उससे अपने हितार्थ उन्हें वंचित करना उचित नहीं है। यही कारण था कि मकी के ग्रन्थ जब दिव्य प्रेमी मन्सूर के[1] हाथ लगे, तब ये लोगों को सरे बाज़ार सुनाने लगे।

इससे कट्टर मौलवी तो मन्सूर के दुश्मन हो ही गये, पर उमर बिन उस्मान से भी असन्तुष्ट हो गये, जिसके फलस्वरूप दोनों में मनमुटाव हो गया। इसलिए मन्सूर बगदाद चले गये और जब वहाँ के विद्वान् शुस्तर से भी मतान्तर हो गया, तब वहाँ से अन्यत्र रवाना हो गये। शुस्तर में भक्त वा साधु की तरह न रहकर विद्वान् की तरह दिन बिताने लगे। फिर मक्के जाकर एक वर्ष तक घोर तपस्या की। अनन्तर जब लौटकर बगदाद पहुँचे तो लोग इनसे घृणा करने लगे। यहाँ तक कि वे पचास शहरों में गये, पर किसी ने कहीं इन्हें ठहरने तक न दिया। कट्टर मुसलमानों ने इनके नाकों में दम कर दिया। और तो क्या, ईरान में इनके ख़िलाफ़ कुफ़्र का फ़तवा दिया गया और ये सूली पर चढ़ा दिये गये। मन्सूर की सूली के बारे में यह शेर बहुत प्रसिद्ध है-

चढ़ा मन्सूर सूली पर, पुकारा इश्क़बाज़ों को।
ये उसके बाम[2] का ज़ीना है, आये जिसका जी चाहे।।

कहते हैं जब मन्सूर को क़त्लगाह-वधस्थान में ले गये, तब उन्होंने भीड़ पर दृष्टि डाली और जोर से 'हक़ हक़ अन् अल् हक़' (ब्रह्म ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि) का नारा लगाया। एक फ़क़ीर ने आगे बढ़कर पूछा कि इश्क़ क्या है तो बोले की आज, कल और परसों में देख लोगे यानी आज आशिक़ को सूली दी जायगी, कल वह जलाया जायगा और परसों उसकी ख़ाक़ उड़ायी जायगी।

इसी तरह औरंगज़ेब के ज़माने में एक आशिक़ सूफ़ी सरमद को शहीद होना पड़ा था। सरमद अरमनी यहूदी था और बाद में मुसलमान बन गया था। वह व्यापार करने हिन्दुस्तान आया था और शाहजहाँ के ज़माने में दिल्ली पहुँचा था। शाहजहाँ के युवराज या वलीअहद और औरंगज़ेब के बड़े भाई दाराशिकोह ने उपनिषदों का तर्ज़ुमा फ़ारसी में कराया था और सूफ़ियों का बड़ा भक्त था। सरमद भी सूफ़ी था और इसलिए दारा के यहाँ आया-जाया करता था। यही नहीं, इसने दारा को राज पाने

१. मन्सूर का नाम हुसेन था और इनके पिता का नाम मन्सूर। अरबी में पूरा नाम हुआ हुसेन इब्ने मन्सूर जिसका अर्थ हुआ हुसेन वल्द मन्सूर। दक्षिणियों की तरह अरब लोगों में लड़के के नाम के साथ बाप का नाम रहता है। हुसेन ने अपना नाम तो छोड़ दिया और पिता का नाम अपना लिया और सच्चे पुत्र की तरह पिता को पुत् नामक नरक से ही नहीं निकाला, लोप होने से ही नहीं बचाया, बल्कि उन्हें संसार में अच्छी तरह चमका दिया।

२. बाम = अटारी।

के लिए आशीर्वाद भी दिया था। सरमद प्रभावशाली सूफ़ी था और उसका दारा से सद्भाव प्राणघातक सिद्ध हुआ।

औरंगज़ेब ने मुल्लाओं से षड्यंत्र कराके सरमद के क़त्ल का फ़तवा ले लिया। जब सरमद को इसका पता चला, तब उसने कहा—

देर अस्त कि अफ़सानए मन्सूर कुहन शुद।
अकनू सरेनौ जलवा दिहम दारो रसनरा।।

अर्थात्—बहुत दिन हुए मन्सूर का किस्सा पुराना पड़ गया था। मैं अभी नये सिरे से सूली पर चढ़कर उसे फिर ताजा करता हूँ। सूलीवाले दिन सरमद ने कहा था—

बज़ुर्मे-इश्क़ तो अम् मीकुशन्द ग़ौग़ाएस्त।
तो नीज़ बरसरे बाम आ कि ख़ुश तमाशाएस्त।।

अर्थात्—तेरे प्रेम के अपराध में मैं मारा जा रहा हूँ यह उसी का कोलाहल है। तू भी अटारी पर चढ़कर देख तो क्या अच्छा तमाशा है।

सूफ़ी अपने सिद्धांतों को सर्वसाधारण से छिपाते थे, क्योंकि "न देयम् यस्यकस्यचित्"—जिस किसी को बताने की यह बात न थी। भक्ति श्रद्धान्वित अधिकारी को ही रहस्य बताये जाते हैं। ऊसर में बीज बोने के वे पक्षपाती न थे। इसके सिवा दूसरा कारण कट्टर मुसलमानों का विरोध भी था, जो इसे कुफ़्र समझते थे। इसलिए इनके अत्याचारों से बचे रहने की चिन्ता भी लगी रहती थी। फलतः सूफ़ी मत का प्रचार गुप्त रूप से ईसाई मत के आरम्भिक काल की भागती प्रार्थनाओं की तरह[१] होना अनिवार्य था। मन्सूर और सरमद की तरह और भी कितने ही इश्क़बाज़ों को जान के लाले पड़ गये होंगे, क्योंकि तसव्वुफ़ को इस्लाम सुदृष्टि से नहीं देखता था।

उर्दू-हिन्दी में तसव्वुफ़ फ़ारसी से ही आया है, इसलिए यह भी जान लेना चाहिए कि वहाँ इसके ग्रन्थ कैसे हैं। फ़ारसी भाषा में तसव्वुफ़ के ग्रन्थों में मौलाना रूम की मस्नवी[२] बहुत प्रसिद्ध और प्रामाणिक है। तेरहवीं ईस्वी शताब्दी में मौलाना रूम हुए हैं। इनका पूरा नाम जलालुद्दीन रूमी है। फ़ारसी में अध्यात्म विद्या और आचारशास्त्र की सबसे पुरानी पुस्तक हकीम सनाई की 'हदीक़ा' है। इसमें शरीर और मन के संसर्ग से उत्पन्न आत्मा के रहस्य खोले गये हैं तथा धृति, शौच, दया, भक्ति आदि धर्मलक्षणों का विशद वर्णन किया गया है। दूसरी पुस्तक ख्वाज़ा फ़रीदुद्दीन अत्तार की 'मस्नवी अत्तार' है। इन दोनों आध्यात्मिक विद्वानों के विषय में मौलाना रूम खुद फ़र्माते हैं कि "अत्तार रूह बूद सुनाई दोचश्में मा" अर्थात् अत्तार मेरी आत्मा है और सनाई दोनों आँखें हैं। मौलाना रूप की मस्नवी फ़ारस, बुखारा,

---

१. आरम्भ में मतों की असहिष्णुता के कारण ईसाइयों को यहूदी विरोधियों से बड़े कष्ट मिले। अपने ढंग पर वे प्रार्थना नहीं करने पाते थे, इसलिए भागते हुए प्रार्थना करते थे। ईसाई मत के इतिहास में ये भागती प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं।

२. कल्पित प्रेम-कथा काव्य को फ़ारसी में मस्नवी कहते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान और भारत आदि देशों में ऐसे ढंग से गायी जाती है कि सुननेवाले प्रेम के मारे विह्वल और मूर्च्छित हो जाते हैं। मौलाना रूम आत्मवाद, अद्वैतवाद और पुनर्जन्म के माननेवाले थे। उनका यह पद्य उनके ईश्वर-प्रेम का साक्षी है।

शादबाश ऐ इश्क़ ख़ुश सौदाए मा।।
ऐ तबीबे जुमला इल्लत-हाय मा।।
ऐ दवाए नख़्वतो नामूसे मा।।
ऐ तो अफ़लातूनो जालीनूसो मा।।

ऐ इश्क़ मेरे अच्छे पागलपन, ऐ मेरी सब बीमारियों के वैद्य, ऐ मेरे अभिमान और सिद्धि की दवा और ऐ मेरे अफ़लातून और जालीनूस ख़ुश रहो।

इस ग्रन्थ के विषय में श्रीयुत् महेशप्रसाद (साधु) मौलवी फ़ाज़िल ने 'मौलाना रूम और उनका काव्य' की भूमिका में लिखा है कि "मौलाना रूम १३वीं शताब्दी ईस्वी में हुए हैं। उस समय तथा उससे पूर्वकाल में अफ़ग़ानिस्तान बलख़, ईरान तथा अरब का बहुत-कुछ सम्बन्ध भारत से था।××× अलबेरूनी, मसऊदी वा अन्य कई विद्वानों द्वारा भारतीय विद्या तथा ज्ञान की चर्चा बहुत-कुछ उन देशों में फैल गयी। निदान निर्विवाद रूप से इस बात को मानना पड़ता है कि मौलाना रूम की बहुत-सी सारगर्भित बातें वास्तव में भारतीय विद्या तथा ज्ञान के आधार पर हैं।"[१]

परन्तु इसी भारतीय विद्या को तसव्वुफ़ का जामा पहनाकर मुसलमान सूफ़ियों ने हमारे सामने रखा। जिस सूफ़ी सम्प्रदाय में अपनी जान की बाजी लगानेवाले मन्सूर और सरमद-जैसे इश्क़बाज़ हुए, उसी में आगे चलकर ऐसे अनाचारी निकले कि अमीर ख़ुसरो सूफ़ी के शागिर्द होने पर भी सूफ़ियों से असन्तुष्ट रहते थे। फिर भी सूफ़ी सम्प्रदाय में ख़ुसरो की कविता बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है, जिसे सुनकर सूफ़ी साधु आपे में नहीं रहते, सिर धुनते-धुनते बावले हो जाते हैं और कभी-कभी मर भी जाते हैं। कुछ सूफ़ियों ने ही खुले हुए इश्क़े मजाज़ी को छिपा हुआ इश्क़े हक़ीक़ी ज़ाहिर किया है और बड़े-बड़े रिन्द, शराबी और अनाचारी फ़क़ीरों और शाइरों को पहुँचा हुआ सूफ़ी कहकर इन्हीं लोगों ने पुजवाया है।

---

१. पञ्चतंत्र का भाषान्तर ईरान के शाह ख़ुसरो नौशेरवां ने हकीम बरज़ोर से पहलवी भाषा में कराया था। उसका शासन-काल सन् ५३१ से ५७९ ईस्वी था। इससे स्पष्ट है कि मौलाना रूम ने अपनी मस्नवी में शेर और खरगोश की जो कहानी लिखी वह पञ्चतंत्र की

बद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।

कहानी के आधार पर ही है। अवश्य ही इसका उपयोग मौलाना ने अपने ढंग पर कर लिया है। उपनिषदों का उल्था भी नौशेरवां के समय में हो चुका था, इसलिए मौलाना को मस्नवी लिखने के समय भारतीय आत्म-विद्या का पता अवश्य था, यह निश्चय है।

उमर ख़य्याम के बारे में लिखते हुए मौलाना शिबली ने सूफ़ियों की भी खबर ली है। उन्होंने लिखा है–

"साफ़ साबित है कि वह दरहक़ीक़त शराब पीता था और यह ज़ाहिरा शराब पीता था। अफ़सोस है कि वह फ़िलसफी और हकीम (दार्शनिक) था, सूफ़ी न था, वर्ना हाफ़िज़ की तरह शराब–शराबे मार्फ़त बन जाती।"

फ़ारसी के सुप्रसिद्ध कवि शेख़ सादी शीराज़ी कहते हैं–

मोहत्सिब दर क़फ़ाए रिन्दानस्त,
ग़ाफ़िल अज़ सूफ़ियाने शाहिद बाज़।

अर्थात् कोतवाल बेचारे रिन्दों के पीछे पड़ा है और इन बदकार सूफ़ियों के हथकंडों से बेख़बर है; इन्हें नहीं पकड़ता।

गूढ़ विषयों को कथा–कहानी द्वारा वर्णन करने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। कहीं तो ऐसा अलंकार और रूपक बाँधकर व्याख्या की जाती है कि साधारण पाठक अलंकार न समझ शब्दों से निकलनेवाले अर्थ को ही सत्य मान लेते और कहानी को कहानी नहीं समझते और कहीं सूत्र रूप से कही हुई बात को विस्तार करके ग्रन्थ लिखे जाते हैं। जैसे वेद में वृत्र–इन्द्र संग्राम और अहल्या की कथा आलंकारिक है। वृत्र मेघ को कहते हैं और इन्द्र–सूर्य मेघ को फाड़कर निकलते हैं। यही वृत्र और इन्द्र का युद्ध है। पुराणों में इन बातों का विस्तार कर अलंकार और भी बढ़ाया गया है। वहाँ वृत्र को असुर बताकर इन्द्र से उसका घोर युद्ध कराया गया है। इसी प्रकार अहल्या–रात, रात न कहकर गौतम–पत्नी बतायी गयी है और उस पर इन्द्र का आक्रमण वर्णित हुआ है। बौद्धों की जातक कथाओं का उद्देश्य भी धर्म के गहन विषयों को सरल करके समझाना है। कथाएँ बहुधा काल्पनिक होती थीं, परन्तु उनका प्रयोग धर्म की व्याख्या करने के लिए किया जाता था। यही बात सूफ़ी मस्नवियों की भी है। मस्नवी की कहानी कल्पित होती है और उसकी कविता में क़ाफ़ियेबन्दी (अनुप्रास) होती है–तुकहीन कविता नहीं होती। मौलाना रूम ने जानवरों की और कहीं–कहीं आदमियों की कहानियों द्वारा प्रेम या इश्क़ का उपदेश दिया है; क्योंकि उन्होंने लिखा है–

ख़ुशतराँ बाशद कि सिर्रे दिलबरां।
गुफ़्त आयद दरहदी से दीगरां।।

अर्थात् यह अच्छा है कि प्रेमपात्रों के रहस्य दूसरों के वार्त्तालाप के द्वारा प्रकट हों।

हिन्दी सूफ़ी कवियों ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। नायक और नायिका के रूपलावण्य और प्रेम का वर्णन करते–करते ये कवि इश्क़े मजाज़ी को इश्क़े हक़ीक़ी की ओर ले जाते हैं और वहाँ अलंकार का रहस्य खोलते हैं। ख़ुसरो की मुकरियों की तरह अन्त में कवि कहता है कि यह प्रेमगाथा वैसी नहीं है, जैसी पाठक अब तक समझता आता है, बल्कि यह कुछ और ही है। किसी दूसरी तरफ़ इशारा है। कुतबन शेख़ ने मृगावती, मंझन ने मधुमालती और मलिक मुहम्मद जायसी ने (पद्मावत) काव्य मस्नवियों की तरह लिखा है। मुग्धावती, प्रेमावती और स्वप्नावती के सिवा उस्मान कवि की

चित्रावली, कासिमशाह की हंस जवाहिर और नूरमुहम्मद की इन्द्रावत या इन्द्रावती इसी तरह की प्रेम-कथाएँ हैं। परन्तु जायसी के पद्मावत के सामने ये सभी काव्य फीके हैं।

जायस ग्राम जिला रायबरेली में रहने के कारण मलिक मुहम्मद, जायसी कहलाते थे। जायस बैसवाड़े में है, इसलिए पद्मावत की भाषा भी बैसवाड़े की भाषा अर्थात् वहाँ की भाषा है जहाँ पश्चिमी हिन्दी का पूर्व की हिन्दी से प्रथम समागम होता है। इसके नायक चित्तौड़ के राजा रतनसेन और नायिका सिंहल की राजकुमारी पद्मावती है। इसमें बताया गया है कि प्रेम का पन्थ बड़ा कंटकाकीर्ण है और जो बाधा-विघ्न को पार कर जाता है, उसी को प्रेयसी-सिद्धि अथवा ब्रह्मज्योति की प्राप्ति होती है। चूँकि जायसी मुसलमान थे और इस्लाम पर इनकी भक्ति भी थी, इससे रसूल और चार यारों की तारीफ़ शुरू में की थी। कथा का वर्णन ऐसे ढंग से किया है कि पढ़ने-सुननेवाला समझ ही नहीं सकता कि वर्णन करनेवाला इतर धर्मावलम्बी है। क्या वैवाहिक आचार-व्यवहार और क्या पूजा-पाठ का विधान सभी ऐसी उत्तम रीति से विधिवत् वर्णित किये हैं कि कोई हिन्दू कवि भी क्या कहेगा। जायसी की वर्णन करने की शैली बड़ी ही चमत्कारपूर्ण है और इसलिए जो कुछ उन्होंने कहना चाहा है, उसका रूप सामने खड़ा कर दिया है।

पद्मावती की कथा संक्षेप में इस प्रकार है-

सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की राजकुमारी पद्मावती रूप गुण में अद्वितीय थी। इसके पास हीरामन नामक बड़ा सुन्दर और पण्डित तोता था। राजा के कोप के कारण सिंहल से उड़कर वह चित्तौड़ पहुँचा, जहाँ राजा रतनसेन ने उसे किसी से एक लाख रुपये में खरीद लिया। एक दिन राजा की अनुपस्थिति में उसकी रानी नागमती को अपने रूप का गर्व हुआ, तो उसने तोते से पूछा कि संसार में मेरे समान भी कोई सुन्दरी है? तोते ने जवाब दिया कि सिंहल की राजकुमारी पद्मिनी और तुममें दिन और अँधेरी रात का अन्तर है। रानी लज्जित हुई और इस डर से कि कहीं तोता राजा से पद्मिनी का हाल न कह दे, चेरी को आज्ञा दी कि तोते को मार डाल। पर राजा के भय से चेरी ने उसे न मारकर अपने घर में छिपा रखा। राजा ने लौटकर जब तोते को न देखा, तब व्याकुल हुआ। जब तोता लाया गया, तब उसने सारी बातें कहकर पद्मिनी के रूप-लावण्य का बखान किया। सुनते ही राजा मूर्च्छित हो गया और उसकी खोज में जोगी बनकर घर से निकल पड़ा। आगे-आगे तोता था और इसके पीछे-पीछे १६ हजार राजकुँवर जोगियों के वेश में थे। कलिंग से जहाजों पर सवार हो यह जोगी-दल अनेक कष्ट झेलता हुआ सिंहल पहुँचा।

राजा ने एक शिव मन्दिर में डेरा डाला और जोगियों के साथ पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा। हीरामन ने पद्मावती को समाचार दिया। राजा के सच्चे प्रेम के प्रभाव से पद्मावती भी व्याकुल हुई और श्रीपंचमी के दिन शिव-पूजन के लिए मन्दिर में गयी। परन्तु राजा उसकी सुन्दरता को देख मूर्च्छित हो गया और वह लौट गयी। चेतना होने पर राजा बड़ा अधीर हुआ। पद्मावती ने जब यह सुना तो कहलाया कि उस समय तो तुम चूक गये; अब तो गढ़ पर चढ़ाई करो, तभी मुझे पा सकते हो। शिव जी से सिद्धि प्राप्त कर राजा जोगियों सहित गढ़ में घुसने लगा, पर सवेरा हो जाने के कारण पकड़ लिया गया। गन्धर्वसेन की आज्ञा से जब रतनसेन को सूली पर चढ़ाने के लिए लोग लिये जा रहे थे,

तब १६ हजार जोगियों ने गढ़ पर धावा बोल दिया और उसे घेर लिया। महादेव, हनुमान् आदि देवताओं की सहायता से रतनसेन की जीत हुई। जोगियों में महादेव जी को पहचान गन्धर्वसेन ने उनसे कहा कि आप जिसे चाहें पद्मावती दे दीजिये। बाद में रतनसेन पद्मावती को ब्याह चित्तौड़ ले आये।

रतनसेन की सभा में राघवचेतन एक पण्डित था। उसे यक्षिणी सिद्ध थी, इसीलिए प्रतिपदा के दिन इसने चन्द्रमा दिखा दिया था। इस पर राजा ने इसे निकाल दिया था। राजा से बदला लेने के लिए राघव ने अलाउद्दीन बादशाह से पद्मिनी के सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा की। फल यह हुआ कि अलाउद्दीन ने रतनसेन से कहला भेजा कि पद्मिनी को मेरे पास भेज दो। यह सुन राजा कुद्र हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ तो घेर लिया, पर गढ़ में घुस न सका। इसलिए सन्धि के प्रस्ताव का छल किया। जब दोनों शतरंज खेल रहे थे, तब अलाउद्दीन को पद्मिनी के रूप की झलक दर्पण में दिखायी दी, तो मूर्च्छित हो गिर पड़ा। प्रस्थान के दिन जब राजा बाहरी फाटक तक उसे पहुँचाने गया, तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिकों ने राजा को क़ैदकर दिल्ली भेज दिया।

पद्मिनी पहले तो व्याकुल हुई, अनन्तर राजा के उद्धार की चेष्टा करने लगी। गोरा और बादल नाम के दो वीर क्षत्रिय ७०० पालकियों में सशस्त्र सिपाही छिपाकर दिल्ली पहुँचे और बादशाह से कहलाया कि पद्मिनी रतनसेन से मिलकर हरम में जायगी।

बादशाह इस चकमे में आ गया। बस, एक पालकी रतनसेन की कोठरी के सामने रख दी गयी, जिससे निकलकर एक लुहार ने राजा की बेड़ियाँ काट दीं और राजा पहले से ही तैयार घोड़े पर सवार हो निकल भागा। गोरा तो शाही फौज को रोकता रहा और बादल ने रतनसेन को चित्तौड़ पहुँचा दिया। चित्तौड़ में पद्मिनी ने उससे कहा कि कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने दूती भेजी थी, तो उसने कुम्भलनेर जा घेरा। लड़ाई में देवपाल और रतनसेन दोनों काम आये। रतनसेन की मिट्टी चित्तौड़ लायी गयी और दोनों रानियाँ—पद्मावती और नागमती सती हो गयीं। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा, उसे राख का ढेर मिला।

अन्त में कवि ने कथा का रहस्य इस प्रकार खोला है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंगल बुधि पद्मिनी चीन्हा।।
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत् को निर्गुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।।
प्रेम-कथा यहि भाँति विचारू। बूझि लेहु जो बूझहि पारू।।

हिन्दी पर सूफ़ियों के साहित्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि इन सूफ़ी कवियों के बाद हिन्दी में तसव्वुफ़ सम्बन्धी कविता का पता नहीं मिलता। इसके साथ ही गो० तुलसीदास की सगुण ब्रह्मसम्बन्धी कविता का लोगों पर खूब प्रभाव पड़ा और आज भी पड़ रहा है, क्योंकि रामायण के पात्र लोगों के परिचित हैं।



# हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव कैसे पड़ा ?

हिन्दी पर फ़ारसी के प्रभाव का विचार करते समय हमें न भूलना चाहिए कि हिन्दी शब्द का यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है अर्थात् हिन्दी शब्द के अन्तर्गत उर्दू रूप भी आ गया है। फ़ारसी का प्रभाव हिन्दी पर दो प्रकार से पड़ा है, एक तो उर्दू रूप से और दूसरे उर्दू द्वारा। उर्दू रूप फ़ारसी का प्रत्यक्ष प्रभाव है और इसके मुख्य सहायक हैं–(१) लिपि, (२) व्याकरण, (३) पिंगल, (४) इस्लामी संस्कृति और इस्लामी देशों का इतिहास तथा भारतीय संस्कृति और इतिहास के ज्ञान का अभाव और उसकी उपेक्षा, (५) लेखन-शैली, (६) इस्लामी देशों के शब्दों और मुहावरों का अधिक प्रयोग तथा हिन्दी शब्दों का बहिष्कार, और (७) अरबी के पारिभाषिक शब्द। कैसे? देखिये।

(१) मुसलमान इस देश में परदेशी थे और परदेशियों के लिए भाषा सीखना जितना सुगम और आवश्यक होता है, उतना लिपि सीखना नहीं होता। इसीलिए मुसलमानों ने भाषा तो सुन-सुनाकर सीख ली और अपने शब्द मिलाकर काम चलाने लगे, परन्तु लिपि न सीखी और अपनी ही लिपि में हिन्दी भी लिखने लगे। यह कल्पना नहीं है, बल्कि ख़ुसरो की एक पहेली से सिद्ध भी हो चुका है। इसके सिवा अंग्रेज़ों ने शुरू-शुरू में जब उर्दू और हिन्दी सीखी थी, तब 'बाग़ो-बहार' और 'प्रेमसागर' के रोमन लिपि में संस्करण बन गये थे। हिन्दी के अन्दर से लिपि भिन्नता के कारण ही उर्दू की नींव पड़ी।

(२) उर्दू आर्यभाषा है और फ़ारसी भी आर्यभाषा है। फ़ारसी, सेमेटिक भाषा अरबी के प्रभाव में आने के कारण भीतर से आर्य रहने पर भी बाहर से अनार्य हो गयी और इस आर्य-अनार्य भाषा का प्रभाव जब हिन्दी पर पड़ा, तो व्याकरण का रूप ही बदल गया। मुसलमान हिन्दी पढ़ते ही न थे, इसलिए हिन्दी का व्याकरण नहीं जानते थे यह कहना बहुत बड़ी बात है; क्योंकि औरंगज़ेब के ज़माने में मीरज़ा ख़ाँ इब्न फ़ख़रुद्दीन मुहम्मद ने 'क़वायद कुल्लियात भाखा'[१] लिखकर फ़ारसी भाषियों के लिए ब्रजभाषा का व्याकरण सुलभ कर दिया था, जिससे नागरी भाषा की प्रकृति का परिचय उन्हें अनायास हो सकता था। परन्तु उर्दू व्याकरण जितने बने, सब अरबी व्याकरण के आधार पर और अरबी परिभाषाओं से युक्त थे और हैं। आर्यभाषा पर यह अत्याचार देखकर भी इसका प्रतिकार किसी से न बन पड़ा यह अत्यन्त खेद की बात है। आश्चर्य विषय है कि अञ्जुमने तरक़्क़ीए

---

1. A grammar of the Braj Bhakha by Mirza Khan, Visva Bharati Book-shop, 210 Coarnwallis St., Calcutta.

उर्दू के सेक्रेटरी और त्रैमासिक उर्दू के सुयोग्य सम्पादक मौलाना अब्दुलहक़ साहब तक कुछ नहीं कर सकते। उन्होंने अपनी 'क़वायदे उर्दू' की भूमिका में जो लिखा है, उसका भावार्थ इस प्रकार है–

"हमारे यहाँ अब तक जो पुस्तकें व्याकरण की प्रचलित हैं, उनमें अरबी व्याकरण का अनुकरण किया गया है। उर्दू ख़ालिस आरिया ज़बान है और इसका सम्बन्ध सीधा आर्यभाषाओं से है। इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक़ सेमेटिक (सामी–अनार्य) भाषाओं के परिवार से है। इसलिए उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी ज़बान का अनुकरण किसी तरह जायज़ नहीं। दोनों ज़बानों की विशेषताएँ बिल्कुल पृथक्-पृथक् हैं, जो विचारने से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। इसी तरह अगर्चे उर्दू हिन्दुस्तान में जन्मी है और इसकी बुनियाद पुरानी हिन्दी पर है–क्रियापद, जो भाषा का प्रधान अंग है, और सर्वनाम तथा कारक चिह्न सब–के–सब हिन्दी हैं, सिर्फ़ संज्ञा और विशेषण अरबी–फ़ारसी के दाख़िल हो गये हैं और कुछ थोड़े से नाम धातु जो कुछ अरबी–फ़ारसी अलफ़ाज़ से बन गये हैं, जैसे बख़्शना, क़बूलना, तजवीज़ना वगैरह, वह किसी शुमार में नहीं। बल्कि कुछ प्रतिष्ठित लोगों के मत में ऐसे पद सही भी नहीं, फिर भी उर्दू भाषा के व्याकरण में संस्कृत नियमों की भी परिपाटी का पालन नहीं किया जा सकता।"[१]

(३) उर्दू कई शताब्दियों तक तो मुसलमानों की बोलचाल की भाषा रही और उत्तर भारत में यद्यपि यह हिन्दी और रेख़्ता कहलाती थी, परन्तु दक्षिण में पहुँचकर दकनी अर्थात् दक्षिणी कहलाने लगी। वहीं इसने साहित्य–क्षेत्र में प्रवेश किया। वहाँ के लोगों की भाषा हिन्दी तो थी ही नहीं, आर्य–भाषा भी न थी, इससे वहाँ की भाषाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था और इसलिए उत्तर से गये हुए मुसलमानों की भाषा हिन्दी, जो प्रारम्भिक रूप में ही थी, फ़ारसी से ही अपना भण्डार भरने के लिए लाचार हुई। फ़ारसी का क़वायद (व्याकरण) और फ़ारसी का ही अरूज़ (पिंगल) लेकर ही दक़नी साहित्य–क्षेत्र में अवतीर्ण हुई। इस विषय में मौ० अब्दुल हक़ साहब ने लिखा है–

"............................मुहम्मद कुली 'कुतुबशाह' की हुकूमत गोलकुण्डा में थी, जहाँ कि सरकार और दरबारी ज़बान फ़ारसी थी और रिआया की ज़बान तिलंगी (तेलुगु)। यही हाल आदिलशाहियों का बीजापुर में था कि मुल्क के आस–पास की ज़बान 'कनड़ी' (कानड़ी) थी। यह दोनों ज़बानें 'द्राविड़ी' हैं और इन्हें आरियाई (आर्य) ज़बानों से कोई ताल्लुक़ नहीं। इसलिए ज़ाहिर है कि इस मुल्क में जब उर्दू ने सूरत अख़्तियार की, तो इसके ख़तोख़ाल (चेहरा–मुहरा–आकृति) क्या होंगे। तिलंगी (तेलुगु) और कनड़ी (कानड़ी) दोनों अजनबी और ग़ैरमानूस (अपरिचित) इनसे किसी क़िस्म का मेल हो ही नहीं सकता। लामहाला (अन्ततोगत्वा) फ़ारसी का रंग इस (उर्दू) पर चढ़ गया। अव्वल तो फ़ारसी आरियाई, दूसरे सदहासाल की यकजाई, दोनों ऐसी घुल–मिल गयीं, जैसे शीरोशकर (दूध और खाँड़) आम असनाफ़े सख़ुन (कविता के प्रकार) मसलन् मस्नवी, क़सीदा, रुबाई, ग़ज़ल उर्दू में भी बिला तकल्लुफ़ आ गये। अलफ़ाज़ (शब्द) तशबीहात (उपमाएँ), इस्तआरात (रूपक) बने–बनाये तैयार मिल गये। अलफ़ाज़ के साथ ख़यालात भी दाख़िल हो गये और क़सीदे,

१. क़वायदे उर्दू, मुक़द्दमा, पृष्ठ १८।

मस्नवी, रुबाई और ग़ज़ल में भी वही शान आ गयी जो फ़ारसी में पायी जाती है, लेकिन सबसे बड़ा इनक़लाब (क्रान्ति) जिसने उर्दू व हिन्दी में इम्तियाज़ (भेद) पैदा कर दिया, वह यह था कि अरूज़ में (पिंगल में) भी फ़ारसी की ही तकलीद (अनुकरण) की गयी है और बगैर किसी तग़य्युरो तबद्दल के (परिवर्त्तन के) उसे उर्दू में ले लिया। फ़ारसी ने इसे अरबी से लिया था और उर्दू को फ़ारसी से मिला। अगर उर्दू को अबदी नशोनुमा (साहित्यिक विकास) दकन (दक्षिण) में हासिल न हुई होती, तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फ़ारसी अरूज़ के हिन्दी अरूज़ होता, क्योंकि दोआब गंगो-जमन में (अन्तर्वेद में) आसपास हिन्दी थी और मुल्क की आम ज़बान थी। बर्खिलाफ़ इसके दक्रन में सिवाय फ़ारसी के कोई इसका (उर्दू का) आश्ना (प्रेमी) न था। और यही वजह हुई कि फ़ारसी इस पर छा गयी। वरना यह जो थोड़ा-सा इम्तियाज़ (भेद) उर्दू-हिन्दी में पाया जाता है, वह भी न रहता और ग़ालिबन (सम्भवतः) यह उर्दू के हक़ में बहुत बेहतर होता।"

"अरूज़ का क़ौमी ज़बान ख़यालात से ख़ास लगाव होता है। उर्दू ने इब्तिदा से (आरम्भ से) यानी जब से इसे अदबी हैसियत (साहित्यिक पद) मिली है, ग़ैर ज़बान का अरूज़, अख़्तियार किया। अगर बजाय फ़ारसी अरूज़ के हिन्दी अरूज़ होता, तो हिन्दी-उर्दू नज़्म (पद्य) और ज़बान में वह मग़ायरत (परायापन) जो इस वक़्त नज़र आती है, न रहती या बहुत-कुछ कम हो जाती।"[१]

(४) जब मुसलमानों ने उर्दू में साहित्य रचना आरम्भ किया, तब उनमें ऐसे साहित्यिक नहीं के बराबर थे, जो इस्लामी देशों के इतिहास और संस्कृति के सिवा और भी किसी संस्कृति अथवा इतिहास का पता रखते हों और भारत के तो वे बादशाह थे, इसलिए इसकी संस्कृति, साहित्य और इतिहास को उन्होंने कभी जानने योग्य ही नहीं समझा। इस कथन की पुष्टि में 'दरिया-ए-लताफ़त' से सैयद इनशाअल्ला ख़ाँ की यह राय उद्धृत की जाती है-

"बार साहबे-तमीज़ाँ पोशीदा नीस्त कि हिन्दुआँ सलीक़ा दर रफ़्तारो-गुफ़्तार व ख़ुराको पोशाक अज़ मुसलमानन याद गिरफ़्ताअन्द। दरहेच मुक़ाम क़ौलोफ़ेल ईहाँ मनाते ऐतबार न मी तमानाद शुद।"

अर्थात् बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओं ने बोलचाल, चालढाल, खाना और पहनना इन सब बातों का सलीका मुसलमानों से सीखा है, किसी बात में भी इनकी बात और काम विश्वास योग्य नहीं।

लार्ड मेकाले ने बंगालियों की निन्दा में जो कुछ लिखा है, वही सैयद इनशा की कुछ पंक्तियों में सारी हिन्दू जाति के विषय में कह दिया गया था, यद्यपि अलबेरूनी की 'किताबुल हिन्द' से ये हिन्दू संस्कृति के विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। क्या आश्चर्य है कि सैयद इनशा की अज्ञतापूर्ण बातें पढ़कर कई तथोक्त हिन्दू अपनी हीनता का अनुभव करने लगें और मुसलमानों को सभ्यशिरोमणि मानने लगें। सच तो यह है कि उस समय के मुसलमान लेखक गूलर के कीड़े की तरह इस्लामी जगत् को ब्रह्मांड समझते थे। इस समझ के कारण उनकी कविता का विषय उनका परिचित संसार ही होता था।

---

१. "कुल्लियात सुल्तान मुहम्मदकुली कुतुबशाह" पर मौ० अब्दुल हक़ साहब का नोट 'उर्दू' त्रैमासिक, जनवरी, १९२२।

(५) हिन्दी और उर्दू की लेखन-कला में अन्तर है, क्योंकि हिन्दी का अक्षय भण्डार संस्कृत और प्राकृत तथा उर्दू का अरबी-फ़ारसी है। फ़ारसी की देखादेखी उर्दू के कवियों ने भी बुलबुल और गुल पर कविता की है, जो ईरानी उपमाओं और उपमानों से भरी पड़ी है। आँख की उपमा हमारे यहाँ कमल, मीन और हरिन की आँख से दी जाती है, यथा, पद्मनेत्रा, मीनाक्षी और मृगनयनी। "हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन" कहते हैं। यहाँ बड़ी-बड़ी आँखें हृदयानन्ददायिनी समझी जाती हैं। नवाब ख़ानेख़ानाँ ने भी अपनी हिन्दी कविता में "ज्यों बड़री अँखियान लखि आँखिन को सुख होत" लिखा है। पर उर्दू फ़ारसी के हिन्दुस्तानी शाइरों ने आँख की उपमा 'नर्गिस' और 'बादाम' से दी है। मौलाना शिबली को यह बात बहुत ख़टकी, इसलिए उन्होंने लिखा कि "आँख की तशबीह (उपमा) नर्गिस से आम (प्रसिद्ध) है, लेकिन नर्गिस को देखा तो उसका फूल एक गोल-सी कटोरी होती है, जिसका आँख से मुनासिबत (सादृश्य सम्बन्ध) नहीं। खोज से मालूम हुआ कि इब्तदाए शाइरी में (फ़ारसी कविता के प्रारम्भिक काल में) तुर्क माशूक़ थे। उनकी आँखें छोटी और गोल होती हैं, इसी बिना (आधार) पर पुराने शाइर आँखों के छोटे होने की तारीफ़ करते हैं।"

यही हाल बुलबुल और गुलाब का है। फ़ारस में तो वसन्त ऋतु में गुलाब खिला और बुलबुल आकर उस पर बैठकर चहचहाने लगी तो चहचहाते और बोलते-बोलते मस्त हो जाती; उसका सीना फट जाता और वह मर जाती है। भारत में ऐसी घटना कभी हुई ही नहीं, पर तो भी यहाँ के उर्दू-फ़ारसी के शाइर बुलबुल का वैसा ही रोना रोते हैं। इसी तरह प्रेम का प्रारम्भ यहाँ पहले स्त्री की ओर से होता है और फिर उसकी प्रेमचेष्टा देखकर पुरुषों की ओर से। परन्तु उर्दू-फ़ारसी के शाइरों की लीला ही विचित्र है। वहाँ स्त्री का अधिकार वा अस्तित्व ही नहीं है। प्रेमी पुरुष प्रेम-पात्र पुरुष पर आसक्त होता है जो अप्राकृत है। यद्यपि मौलाना हाली और शिबली ने इसकी निन्दा की है, तथापि उर्दू कवियों की प्रकृति बदलने में वे समर्थ नहीं हुए।

उर्दू और हिन्दी की लेखन-कला में क्यों और कैसे आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया, इस विषय में मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' मरहूम अपनी 'आबेहयात' किताब में लिखते हैं-

"शाइराना उर्दू का नौजवान जिसने फ़ारसी के दूद से परवरिश पायी, उसकी तबियत में बहुत से बुलन्द ख़यालात (उच्च विचार) और मुबालग़ा मज़ामीन (अतिशयोक्त विषयों) के साथ वह हालात और मुल्की रस्में और तारीखी इशारे (ऐतिहासिक संकेत) आ गये जो फ़ारस और तुर्किस्तान से ख़ास ताल्लुक़ रखते थे और भाषा के तबई मुख़ालिफ़ (प्रकृति के विरोधी) थे। साथ इसके फ़ारसी की नज़ाकत (कोमलता) और लताफ़त तबई (प्राकृतिक सुघड़पन) के सबब से उर्दू के ख़यालात (विचार) अक्सर ऐसे पेचीदा (जटिल) हो गये कि (जो) बचपन से हमारे कान में पड़ते और ज़ेहनों (ध्यानों) में जमते चले आते हैं, इसलिए हमें मुश्किल नहीं मालूम होते। अनपढ़ अनजान या ग़ैर-ज़बानवाला (अन्य भाषाभाषी) इन्सान सुनता है, तो मुँह देखता रह जाता है कि यह क्या कहा। इसलिए उर्दू पढ़नेवाले को वाजिब है कि फ़ारसी की इन्शापर्दाज़ी (लेखन-कला) से ज़रूर आगाही (अभिज्ञता) रखता हो।

"फ़ारसी और उर्दू की इन्शापर्दाजी (लेखन-कला) में जो दुश्वारी (कठिनाई) है और हिन्दी की इन्शा में जो आसानी है, उसमें एक बारीक नुकता (महीन बात) ग़ौर के लायक़ (ध्यान देने योग्य) है। वह यह है कि भाषा जिस शै (चीज़) का बयान करती है, उसकी कैफ़ियत हमें उन ख़तोख़ाल से (आकृति से) समझाती है, जो ख़ास उसी शै के देखने, सुनने, सूँघने, चखने या छूने से हासिल होती है। इस बयान में अगर्चे मुबालग़े के ज़ोर (अतिशयोक्ति का प्राबल्य) या जोशो ख़रोश (उत्साह और चिल्लाहट) की धूमधाम नहीं होती, मगर सुननेवाले को असल शै के देखने से जो मज़ा आता है, वह सुनने से आ जाता है। बरख़िलाफ़ शोअराय फ़ारस के कि (इसके विरुद्ध फ़ारस के कविजन हैं) यह जिस शै का ज़िक्र करते हैं साफ़ उसी की बुराई-भलाई नहीं दिखाते, बल्कि इसके मुशाबा (सदृश) एक और शै, हमने जिसे अपनी जगह अच्छा या बुरा समझा हुआ है, उसके लवाजमात को (आवश्यक अंगों को) शै अव्वल (प्रथमोक्त वस्तु) पर लगाकर इनका बयान करते हैं। मसलन् (उदाहरणार्थ) फूल की नज़ाकत (कोमलता, रंग और ख़ुशबू) में माशूक़ के मुशाबिह (समान) है। जब गर्मी की शिद्दत (अधिकता) में माशूक़ के हुस्न (सौन्दर्य) का अन्दाज़ा (ढंग) दिखाना हो तो कहेंगे कि मारे गर्मी के फूल के रुखसारों से (गालों से) शबनम (ओस) का पसीना टपकने लगा।

"यह तशबीहें (उपमाएँ) और इस्तआरे (रूपक) अगर पास-पास के हों और आँखों के सामने हों तो कलाम (वक्तव्य) में निहायत लताफ़त (आनन्द) और नज़ाकत (कोमलता) पैदा होती है। लेकिन जब दूर जा पड़ें और बहुत बारीक पड़ जायँ तो दिक़्क़त हो जाती है। चुनाँचे हमारे नाज़ुक ख़याल (कोमल विचार) किसी बादशाह के इक़बाल (भाग्य) और अक़्ल के लिए इस क़दर तारीफ़ पर क़नाअत (सन्तोष) नहीं करते कि वह इक़बाल में सिकन्दर यूनानी या अरस्तू सानी है। बल्कि बजाय इसके कहते हैं कि इसका हुमाए अक़्ल (बुद्धि की हुमा) ओज इक़बाल से (भाग्य की ऊँचाई से) साया डाले, तो हर शख़्स किशवर दानिश (देश का विद्वान्) व दौलत का सिकन्दर और अरस्तू हो जाये, बल्कि अगर इसके सीने में (हृदय में) दलायल अक़्ली (बुद्धि के तर्कों) का दरया जोश मारे तो तबक़ै यूनान को (यूनान के आदमियों की श्रेणी को) ग़र्क़ कर (डुबा) दे। अव्वल तो हुमा की[1] यह सिफ़त (गुण) खुद एक बेबुनियाद फ़र्ज़ (निराधार कल्पना है) और वह भी इसी मुल्क के साथ ख़ास है। सपर इक़बाल का एक फ़लकुल अफ़लाक (आकाशों का आकाश) तैयार करना और उस पर नुक्ताए ओज का दर्याफ़्त करना देखिये। वहाँ उनके फ़र्ज़ी (कल्पित) हुमा का जाना देखिये। फिर उसी फ़र्ज़ी हुमा की बर्कत का इस क़दर आम (प्रसिद्ध) करना देखिये, जिससे दुनिया के जाहिल (मूर्ख) इस ख़याली (कल्पित) यूनान में जाकर अरस्तू हो जायँ।

दूसरे फ़िक़रे में, अव्वल तो उल्माए हिन्द ने (भारतीय विद्वानों ने) तेवर से तूफ़ान का निकलना माना ही नहीं है। इस पर तबक़ाए यूनान का (यूनान की श्रेणियों का) अपने फ़िलसफ़े की तुहमत में (अभियोग में) तबाह होना वगैरह वगैरह ऐसी बातें और रवायतें (परम्पराएँ) हैं कि अगर्चे हमारे मामूली ख़यालात हों, मगर ग़ैर-क़ौम बल्कि हमारे भी आम लोग उससे बेख़बर हैं, इसलिए बेसमझाये

---

१. हुमा पक्षी-विशेष जो कल्पित ही होता है।

न समझेंगे। और जब बात को ज़बान से कहकर समझाने की नौबत आयी तो लुत्फ़ ज़बान कुजा (भाषा का मज़ा कहाँ) और यह नहीं तो तासीर (प्रभाव) कुजा (कहाँ)? मज़ा वही है कि आधी बात कही आधी मुँह में है और सुननेवाला फड़क उठा। तार बाजा और राग बूझा। इन खय़ाली रंगीनियों और फ़र्ज़ी लताफ़तों (काल्पनिक आनन्द) का नतीज़ा (परिणाम) यह हुआ कि बातें बदीही (प्रकट) हैं और महसूसात में (अनुभवों में) अयाँ (स्पष्ट) हैं, हमारी तशबीहों (उपमाओं) और इस्तआरों (रूपकों) के पेंच दरपेंच ख़यालों में आकर वह भी आलमे तसव्वर में (कल्पना के जगत् में) जा पड़ती हैं, क्योंकि ख़यालात के अदा करने में हम अव्वल आशियाए बेजान को (निर्जीव वस्तुओं को) जानदार बल्कि अकसर इन्सान फ़र्ज़ (कल्पना) करते हैं। बाद इसके जानदारों और आकिलों के लिए जो मुनासिब हाल हैं, इन बेजानों पर लगाकर ऐसे-ऐसे ख़यालात पैदा करते हैं, जो अक्सर मुल्के अरब या फ़ारस या तुर्किस्तान के साथ क़ौमी (जातीय) या मज़हबी ख़ुसूसियत (विशेषता) रखते हैं।"[१]

(६) उर्दू और हिन्दी में प्रभेद बढ़ाने और उर्दू को हिन्दुस्तानी मुसलमानों की क़ौमी ज़बान बनाने का काम उर्दू शाइरों ने अपने ज़िम्मे ले लिया और वह इस तरह कि उर्दू से हिन्दी शब्दों और मुहावरों का बड़ी बेरहमी से बहिष्कार करना फ़र्ज़ समझा। अमीर ख़ुसरो और नज़ीर अकबराबादी जैसे इने-गिने शाइरों को छोड़कर सभी इस काम में लग गये थे। इसका क्या प्रभाव पड़ा, इस विषय में मौ० अब्दुलहक़ साहब फ़र्माते हैं--

".......बाद के उर्दू शोअरा (शाइरों) पर फ़ारसी का रंग ऐसा ग़ालिब आया कि यह ख़ुसूसियत (विशेषता) उर्दू शाइरी से बिल्कुल उठ गयी और रफ़्ता-रफ़्ता बहुत से हिन्दी अलफ़ाज़ (शब्द) ज़बान से ख़ारिज हो गये और उस्तादी अलफ़ाज़ के मतरूक (परित्यक्त) करने में रह गयी।

"......बाद में ऐसे अदीब (साहित्यिक) और शाइर आये जो मये शीराज के मतवाले थे। इन्हें जो चीज़ें अज़नबी और ग़ैरमानूस (अपरिचित्त) और अपने जौक़ के (रुचि के) ख़िलाफ नज़र आयीं, वह उन्होंने चुन-चुनकर फेंक दीं और बजाय हिन्दी के फ़ारसी अन्सर (अंश) ग़ालिब आ गया। इसमें वली और उसके हम-असर (समसामयिक) भी एक हृदय तक क़ाबिले इलज़ाम हैं।......इस ज़माने में मौलवी हाली एक ऐसे शाइर हुए हैं, जिन्होंने उर्दू में हिन्दी की चाशनी देकर कलाम में शीरीनी (मधुरता) पैदा कर दी है, मगर हम-असर शोअरा में इसकी कुछ क़दर न हुई।"

(७) हिन्दी को उर्दू से अलग करनेवाली अन्तिम, पर किसी से कम नहीं, बात यह हुई कि प्रारम्भ से ही उर्दू में इस्तलाहात (पारिभाषिक शब्द) अरबी से लिये गये और आज भी लिये जा रहे हैं। इसका फल यह हुआ कि हिन्दी के पारिभाषिक शब्द जो संस्कृत से लिये जाते हैं, उर्दूवाले नहीं समझते और उर्दू के पारिभाषिक शब्द हिन्दीवालों की समझ में नहीं आते। इस प्रकार एक भाषा के दो रूप एक-दूसरे से जुदा हो गये और हिन्दी के लिए उर्दू और उर्दू के लिए हिन्दी भिन्न भाषा

---

१. आवेहयात, पृष्ठ ५३, ५४।

बन गयी। रेखा-गणित के तिकोने को हिन्दी में तो त्रिकोण कहते हैं और उर्दू में मुसल्लस; इसी तरह कोना हिन्दी में 'कोण' और उर्दू में 'ज़ाविया' कहलाता है। यही अन्य विज्ञानों के पारिभाषिक शब्दों के विषय में समझना चाहिए। इस प्रकार हिन्दी उर्दूवालों के लिए और उर्दू हिन्दीवालों के लिए अपरिचित हो गयी। आश्चर्य है कि इन बातों का कुछ ध्यान न रख हमारे कुछ राजनीतिक नेता दोनों को एक करने के सपने अब तक देख ही रहे हैं।

कुछ विद्वान् मुसलमान चाहते हैं कि हिन्दी-उर्दू के बीच की खाईं जो दिनोंदिन चौड़ी होती जाती है, पाट दी जाय। पर जैसे अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, वैसे ही ये भी सिर्फ़ राय ज़ाहिर करने के सिवा कुछ नहीं कर सकते। फिर भी इनके मत का मूल्य है और उससे भाषा के इतिहास और संगठन पर प्रकाश पड़ता है। 'वज़ै इस्तलाहात' (परिभाषा निर्माण) नाम की अपनी पुस्तक में उस्मानिया कॉलेज के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर मौलवी वहीउद्दीन साहब 'सलीम' पानीपती मरहूम ने लिखा है–

"..... मगर जो हज़रात वज़ै इस्तलाहात (परिभाषा निर्माण) में अरबियत के (अरबीपन के) हामी हैं, वह तो फ़ारसी ज़बान से भी इस्तलाहें बनाने के रवादार नहीं हैं, हिन्दी का तो क्या ज़िक्र है। फिर एक गिरोह (सम्प्रदाय) है, जो इस्तलाहात में फ़ारसी की आमेज़िश को (मिलावट को) तो जायज़ रखता है, लेकिन हिन्दी मेल से नफ़रत का इज़हार करता है, ग़रज़े कि यह दोनों गिरोह इल्मी इस्तलाहात में (वैज्ञानिक परिभाषाओं में) हिन्दी की मदाख़लत को (हस्तक्षेप को) पसन्द नहीं करते। उनके नज़दीक वह इस्तलाहें, जो हिन्दी अलफ़ाज़ से बनायी जायँ और हिन्दी के मखसूस (विशिष्ट) हरूफ ट, ड, ड़ और मख़लूतहा (गड़बड़ किये हुए) फ, भ, थ, ढ, ह, ख, घ, ल्ह, म्ह, न्ह शामिल हों, महज़ बाज़ारी और मुब्तज़ल (अशिष्ट) अलफ़ाज़ होंगे।

"हमारे नज़दीक यह ख़याल सख़्त ग़लती पर मबनी (आधारित) है। हिन्दी हमारी महबूब (प्यारी) ज़बान उर्दू के लिए, जिसको हम दिन-रात घरों में, बाज़ारों में, महफ़िलों और मजलिसों में, मदरसों और कारखानों और हर मुक़ाम में और हर हालत में बोलते हैं, और इसी को हमेशा लिखते और पढ़ते हैं, बमंज़िले ज़मीन के (भूमि के समान) है। इसी ज़मीन पर फ़ारसी और अरबी के पौधे लगाये गये हैं। इसी तख़्ते पर ग़ैरज़बानों ने (दूसरी भाषाओं ने) आकर गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन यानी हिन्दी निकाल दी जाय, तो फिर उर्दू ज़बान का नामो-निशान भी बाक़ी न रहेगा। हिन्दी को हम अपनी ज़बान के लिए उमुल्लिसान (भाषा की जननी) और हमूलाये अव्वल (मूलतत्त्व) कह सकते हैं। इसके बग़ैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं है। इसकी मदद के बग़ैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नहीं रखते, वह उर्दू ज़बान के हामी नहीं हैं, फ़ारसी, अरबी या किसी दूसरी ज़बान के हामी हों तो हों। क्या वह हिन्दी अस्माओ अफ़आल (संज्ञा और क्रियापद) जिनको हम रात-दिन, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते इस्तेमाल करते हैं, मुब्तज़ल और बाज़ारी हो सकते हैं? क्या हमारे उलमा (विद्वान्) खवासो अशराफ (विशिष्ट और कुलीन सज्जन) इन अस्माओ अफ़आल को बेतकल्लुफ़

(निःसंकोच, अनायास) अपनी ज़बानों पर नहीं लाते ? फिर यह क्या है कि जो अलफ़ाज़ अदनाओ आला, आमोख़ास जाहिलो आलिम सबकी ज़बानों पर हैं, वह हर क़िस्म की गुफ़्तगू और ख़तो किताबत के वक़्त तो मुब्तज़ल और बाज़ारी नहीं होते, मगर इल्मी इस्तलाहात बनाते वक़्त उनको मुब्तज़ल और बाज़ारी कहा जाता है! क्या उर्दू ज़बान में सब ज़बानों से ज़्यादा कसीर तादाद (बहुसंख्यक) हिन्दी के[१] अलफ़ाज़ नहीं हैं? क्या हिन्दी के ख़ास हरूफ़ (ख, ढ़, भ आदि) हम बेतकल्लुफ़ (अनायास) अदा नहीं करते? क्या हम ऐसे अलफ़ाज़, जिसमें यह हरूफ़ हों, अपनी ज़बान से छीलकर दूर कर सकते हैं ? क्या इन हरूफ़ के बोलने से हम हमेशा के लिए तोबा कर सकते हैं? अगर नहीं, तो क्या फिर मौक़े पर इन अलफ़ाज़ और इन हरूफ़ को इस्तेमाल करना और हर फ़सीह से फ़सीह तक़रीर और तहरीर में इनको दख़ल देना और एक खास मौक़े पर, यानी वज़े इस्तलाहात वक़्त, उन अलफ़ाज़ व हरूफ़ को उनके शानदार दर्जे से गिरा देना और मुब्तज़ल व बाज़ारी की फ़बती उन पर चस्पाँ करना सरासर मुहमिल (असम्बद्ध) और बेमानी नहीं है?

"आख़िर हिन्दी अलफ़ाज़ को सख़ीफ़ (बेहूदा) और मुब्तज़ल समझने की वजह क्या है? इसकी वजह साफ़ ज़ाहिर है। जो क़ौम अपने दर्जे से गिर जाती है, वह हुर्रियत (स्वतन्त्रता) का ताज सिर से उतारकर ग़ुलामी का तौक़ पहन लेती है, वह अपनी हर चीज़ को पस्तो ज़लील समझने लगती है। अपना मज़हब दूसरों के मज़हबों के मुक़ाबिले में, उन्हें अदना और कमज़ोर नज़र आता है। ग़ैरों के इख़लाक़ और आदाबोरसूम (चरित्र और आचार-व्यवहार) अपने इख़लाक़ और आदाबोरसूम से अच्छे दिखायी देते हैं। इसी तरह अपनी ज़बान भी उन्हें ग़ैरों की ज़बानों की निस्बत नाशाइस्ता (अशिष्ट) और कममाया (दरिद्र) मालूम होती है। ग़ैर ज़बानों के अलफ़ाज़ उनकी नज़र में निहायत शानदार और अरफ़ा (उच्चतम) हो जाते हैं और अपनी ज़बान के अलफ़ाज़ हक़ीर (तुच्छ) और मुब्तज़ल मालूम होते हैं। यह मैलान (झुकाव) गिरी हुई क़ौम के तमाम मामलात व हालात पर यकसाँ तौर से हावी हो जाता है।

---

१. सैयद अहमद देहलवी के मशहूर उर्दू लुग़ात (कोष) 'फ़हरंग आसफ़िया' में शब्दों की संख्या ५४००९ बतायी गयी है, जिसका व्योरा इस भाँति दिया है–

| | |
|---|---|
| हिन्दी जिसके साथ पञ्जाबी और पूर्वी ज़बान के बाज़ ख़ास अलफ़ाज़ भी शामिल हैं ... | २१६४४ |
| उर्दू यानी वह अलफ़ाज़ जो ग़ैर ज़बानों से हिन्दी के साथ मिलकर बने हैं ... | १७५०४ |
| अरबी ... ... ... | ७५८५ |
| फ़ारसी ... ... ... | ६०४१ |
| संस्कृत ... ... | ५५४ |
| अंग्रेज़ी ... ... ... | ५०० |
| मुख़्तलिफ़ (विविध) ... ... | १८१ |
| | ५४००९ |

"हमको इस धोके से बचना चाहिए और हिन्दी ज़बान के अलफ़ाज़ व हरूफ़ से, जो हमारी ज़बान की फितरत में (पैदाइश में) दाखिल हैं, नाक-भौं चढ़ानी नहीं चाहिए। हम जिस तरह अरबी और फ़ारसी से इस्तलाहात लेते हैं, इसी तरह हिन्दी से भी बेतकल्लुफ़ वज़ै इस्तलाहात से काम लेना चाहिए और हिन्दी अलफ़ाज़ को, जो हमारी ज़बान के मानूसो महबूब (परिचित और प्रिय) अलफ़ाज़ हैं, बाज़ारी और मुब्तज़ल कहकर दुनिया की नज़र में अपने तईं गैर-मोहज़्ज़ब (असभ्य) और तनज़्ज़ुलयाफ्ता (पतित) साबित नहीं करना चाहिए। इस उसूल से (सिद्धान्त से) सिर्फ़ उस सूरत में हटना चाहिए जब कि हिन्दी के अख़्तियारकरदा (अंगीकृत) मुफ़रद (अधूरे) अलफ़ाज़ से मुरक्कब (दूसरे शब्दों से बने) इस्तलाहात तैयार करने में कोई दुशवारी पेश आये।"[१]

इन अवतरणों से सिद्ध हो गया कि किन कारणों से हिन्दू-उर्दू में भेद पड़ा और क्यों वह भेद दूर नहीं होता। अब हम यह बताकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करना चाहते हैं कि हिन्दी-उर्दू की खाईं पाटने का जो यत्न उर्दू के दो-एक विद्वान् और साहित्यिक करते भी हैं, उसमें अन्य विद्वानों का सहयोग उन्हें नहीं प्राप्त होता, इसलिए उनका यह उद्योग अरण्यरोदन-सा होता है। ऊपर दूसरे सिलसिले में मौलाना अब्दुल हक़ साहब की यह राय उद्धृत की जा चुकी है कि इस ज़माने में मौलवी हाली एक ऐसे शाइर हुए हैं जिन्होंने उर्दू में हिन्दी की चाशनी देकर कलाम में शीरीनी पैदा कर दी है, मगर हम-असर शोअरा में इसकी कुछ क़दर न हुई। यही नहीं, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा कहते हैं-"उर्दू के धनी तो मौलाना हाली को भी (जिनकी सारी उम्र देहली में रहते बीती और ग़ालिब और शेफ़्ता-जैसे बाकमाल बुज़ुर्गों के सत्सङ्ग और सोसाइटी में रहने का जिन्हें निरन्तर सौभाग्य प्राप्त हुआ था और स्वयं एक आदर्श और उच्चकोटि के क्रान्तिकारी कवि थे, सिर्फ़ इस क़सूर के कारण कि उनका जन्म दिल्ली में न होकर पानीपत में हुआ था (यानी वह दिल्ली के रोड़े न थे) उर्दू-ए-मुअल्ला का

मुख़्तलिफ के अन्तर्गत ये भाषाएँ और इनके शब्द गिनाये गये हैं :

| | | | |
|---|---|---|---|
| तुर्की ... | ... | ... | १०५ |
| इब्रानी (Hebrew) | ... | ११ | |
| सुरयानी | ... | ७ | १८ |
| यूनानी (Greek) | ... | ... | २९ |
| पुर्तगाली (Portuguese) | ... | ... | १६ |
| लातीनी (Latin) | ... | ... | ४ |
| फ़रासीसी (French) | ... | ... | ३ |
| पालि | ... | ... | २ |
| बर्मी | ... | ... | २ |
| मलाबारी | ... | ... | १ |
| हस्पानवी (Spanish) | ... | ... | १ |
| | | | कुल १८१ |

१. वज़ै इस्तलाहात, पृ० १७५-७७।

मालिक या फ़सीह और टकसाली उर्दू लिखनेवाला नहीं मानते थे।"[१] हाली ने 'दिल्ली की शाइरी का तनज़्ज़ुल' शीर्षक कविता में इसी दुर्घटना का उल्लेख भी किया है।

कोई सौ साल पहले मीर वली मुहम्मद नज़ीर ने बहुत सी ऐसी कविता लिखी थी, जो हिन्दी और उर्दू दोनों की कही जा सकती है। परन्तु इसकी पूछ उर्दू के शाइरों में न हुई। मौ० हाली और नज़ीर दोनों का एक पाप तो यह था कि वे दिल्ली में नहीं पैदा हुए थे और दूसरा यह था कि उनकी ज़बान में हिन्दी के अलफ़ाज भी होते थे, यद्यपि यह किसी ने स्वीकार नहीं किया है, तथापि मौ० हाली ने नज़ीर की चर्चा में गुप्त रूप से यह बात कह डाली है। अपने मशहूर मुक़द्दमे में मीर अनीस के बारे में लिखते हुए उन्होंने कहा है–

"आजकल यूरोप में शाइरों के कमाल का अन्दाज़ा इस बात से भी किया जाता है कि उसने और शोअरा से किस क़दर ज़्यादा अलफ़ाज़ ख़ुशसलीक़गी (सुचातुरी) और शाइश्तगी से (औचित्य से) इस्तेमाल किये हैं। अगर हम भी इसी को मीयारे कमाल (योग्यता का आदर्श) क़रार दें तो भी मीर अनीस को उर्दू शोअरा में सबसे बरतर (श्रेष्ठतम) मानना पड़ेगा। अगर्चे नज़ीर अकबराबादी ने शायद मीर अनीस से भी ज़ियादा अलफ़ाज़ इस्तेमाल किये हैं, मगर उसकी ज़बान को अहले ज़बान कम मानते हैं, बख़िलाफ़ मीर अनीस के उसके हर लफ़्ज़ और मुहावरे के आगे सबको सर झुकाना पड़ता है।" (पृ० १८२)

इसमें नज़ीर का क्या कसूर? इसे उर्दू शोअरा के तअस्सुब के सिवा क्या कहा जा सकता है?

नज़ीर का देहान्त सन् १८३२ में आगरे में हुआ था। वे नज़ीर अकबराबादी प्रसिद्ध थे। आगरे का ताजगञ्ज मुहल्ला उस समय अकबराबाद कहलाता था, क्योंकि अकबर ने बसाया था, और वहीं अकबर की राजधानी थी। यदि आज उर्दू कविता का ढङ्ग वही होता, जो नज़ीर की कविता का था, तो उर्दू–हिन्दी के भेद का रोना या तो होता ही नहीं, यदि होता तो कम होता। परन्तु जिसने इस ढङ्ग की कविता की, वह नजस (अपवित्र) समझा गया और सुकवियों की श्रेणी से बहिष्कृत हुआ। परन्तु नज़ीर स्वतंत्र कवि थे; उन्होंने कभी इसकी परवाह नहीं की। उनके श्रीकृष्ण–लीला के फ़ारसी छन्द में कहे हुए पद रसखानि के पदों से कुछ कम महत्त्व के नहीं हैं। उदाहरणस्वरूप ये पंक्तियाँ पढ़िये–

यारो सुनो य दधिके लुटैयाक बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैयाक बालपन।।

मोहन सरूप नृत्य करैयाक बालपन।
बन–बन में ग्वाल गौएँ चरैयाक बालपन।।

ऐसा था बाँसुरी के बजैयाक बालपन।
क्या–क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैयाक बालपन।।

१. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पृ० १० का नोट।

पर्दे में बालपन के ये उनके मिलाप थे।
जोतीसरूप कहिये उन्हें सो वो आप थे।।

मृत्यु जैसे कठिन विषयों को सरल करके समझाने में उन्हें कमाल हासिल था। मृत्यु क्या है, इस पर कहते हैं–

जो मरना–मरना कहते हैं, वह मरना क्या बतलाय कोई।
वाँ जो हर बाँहें खोल मिले, सब अपनी अपनी छोड़ दुई।।

सी डाली आँख दुरङ्गी की जब एक रङ्गी ने मार सुई।
नै मर्दों का गुलशोर रहा नै औरत की कुछ आह हुई।।

माटी की माटी आग अगिन, जलनीर पवन की पवन हुई।
अब किससे पूछिये कौन मुआ, और किससे कहिये कौन मुई।।

याँ इक तरफ़ तो दूल्हा था, और एक तरफ़ को दुलहन थी।
जब दोनों मिलकर एक हुए, फिर बात रही क्या पर्दे की।।

नै राजा का सन्देह रहा, नै भेद रहा कुछ रानी में।
जब घेरे मिल गये घेरों में, और पानी मिल गया पानी में।।

याँ जिनको जीना मरना है, ऐ यार उन्हीं को डरना है।
जब दोनों दुख–सुख दूर हुए, फिर जीना है ना मरना है।।

नज़ीर का भाषा पर असाधारण प्रभुत्व था। उनकी शैली बड़ी ही सुन्दर और मनमोहिनी थी, जिससे उनके शब्दों का पाठकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वे लौकिक और पारलौकिक सभी विषयों पर अपना मत स्पष्ट रूप से सरल भाषा में प्रकट करते थे, जैसा इन आवतरणों से जाना जायगा–

### जोगीनामा

कोई कहता है जोगी जी किधर को आये।
सच कहो कौन–सी नगरी में तुम्हारा है वतन।।

तुम तो आते हो नज़र हमको नये से जोगी।
सच कहो जोग लिया तुमने य किसके कारन।।

गर गुरु हुक्म हो बनवा दें तुम्हारा अस्थल।
शहर में बाग़ में या बरलबे दरियाए जमन।।

या कि मथुरा जो पसन्द आये तो वाँ जगह ले।
या खदिरबन में महाबन में हो या बृन्दाबन।।

जब तो सुन सुन के कहा मैंने य उससे बाबा।
तुमको क्या काम फ़क़ीरों से य करना अनबन।।

और वतन पूछ हमारा तो य सुन बाबा।
या गली दोस्त की या यार के घर का आँगन।।

### आदमीनामा

मसजिद भी आदमी ने बनायी है याँ मियाँ।
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुतबख्वाँ[१]।।
पढ़ते हैं आदमी ही क़ुरान और नमाज़ याँ।
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियाँ।।
जो उनको ताड़ता है सो है वह भी आदमी।।

### बुढ़ापेनामा

क्या कहर[२] है यारो जिसे आ जाय बुढ़ापा।
और ऐश जवानी के तईं आय बुढ़ापा।।
इशरत[३] को मिला ख़ाक़ में ग़म लाय बुढ़ापा।
हर काम को हर बात को तरसाय बुढ़ापा।।
सब चीज़ को होता है बुरा हाय बुढ़ापा।
आशिक़ को तो अल्लाह न दिखलाय बुढ़ापा।।

### बञ्जारानामा

टुक हिर्सो[४] हवा को छोड़ मियाँ मत देश विदेश फिरै मारा।
कज्जाक[५] अजल[६] का लूटे है दिनरात बजाकर नक़्क़ारा।।
क्या बधिया भैंसा बैल शुतुर क्या गोनें पल्ला सिर भारा।
क्या गेहूँ चावल मोठ मटर क्या आग धुआँ औरं अङ्गारा।।
सब ठाठ पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बञ्जारा।।

× × ×

जब चलते-चलते रस्ते में ये गौन तेरी ढल जावेगी।
इक बधिया तेरी मिट्टी पर फिर घास न चरने पावेगी।।
ये खेप जो तूने लादी है सब हिस्सों में बँट जावेगी।
धी पूत जँवाई बेटा क्या बञ्जारिन पास न आवेगी।।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बञ्जारा।।

---

१. जुमे के रोज और विशेष अवसरों पर बादशाहों के लिए मसज़िदों में जो नमाज़ पढ़ी जाती है, वह खुतबा कहलाती है और उसे पढ़नेवाला खुत्वाख्वां कहा जाता है। २. जोर-ज़बरदस्ती। ३. ख़ुशदिली। ४. लालच। ५. डाकू। ६. मौत का वक़्त।

× × ×

जब मर्ग[1] फिराकर चाबुक को ये बैल बदन का हाँकेगा।
कोइ नाज समेटेगा तेरा कोई गौन सिये और टाँकेगा।।
हो ढेर अकेला जङ्गल में तू ख़ाक लहद[2] की फाँकेगा।
इस जङ्गल में फिर आह 'नज़ीर' इक भुनगा आन न झाँकेगा।।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बञ्जारा।।

फ़क़ीरों की सदा

बटमार अजलका आ पहुँचा टुक इसको देख डरो बाबा।
अब अश्क[3] बहाओ आँखों से और आहें सर्द भरो बाबा।।
दिल हाथ उठा इस जीने से बेबस मन मार मरो बाबा।
जब बाप की ख़ातिर रोते थे अब अपनी ख़ातिर रो बाबा।।
तन सूखा कुबड़ी पीठ हुई घोड़े पै ज़ीन धरो बाबा।
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलने की फ़िक्र करो बाबा।।

× × ×

सर काँपा चाँदी बाल हुए मुँह फैला पलकें आन झुकीं।
क़द टेढ़ा कान हुए बहरे और आँखें भी चुँधियाय गयीं।।
सुख नींद गयी और भूख घटी दिल सुस्त हुआ आवाज़ नहीं।
जो होनी थी सो हो गुज़री अब चलने में कुछ देर नहीं।।
तन सूखा कुबड़ी पीठ हुई घोड़े पर ज़ीन धरो बाबा।
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलने की फ़िक्र करो बाबा।।

× × ×

घरबार रुपये और पैसे में मत दिल को तुम खुरसन्द[4] करो।
या ग़ोर बनाओ जङ्गल में या जमना पर आनन्द करो।।
मौत आन लताड़ेगी आख़िर कुछ मकर करो कुछ फन्द करो।
बस ख़ूब तमाशा देख चुके अब आँखें अपनी बन्द करो।।
तन सूखा, कुबड़ी पीठ हुई, घोड़े पर ज़ीन धरो बाबा।
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलने की फ़िक्र करो बाबा।।

× × ×

---

१. मौत। २. गढ़ा जिसमें लाश धोयी-नहलायी जाती है। ३. आँसू। ४. खुश।

### कलयुग

दुनिया अजब बाज़ार है कुछ जिन्स यॉंकी सात ले।
नेकी का बदला नेक है बद से बदी की बात ले।।
मेवा खिला मेवा मिले फल फूल दे फल पात ले।
आराम दे आराम ले दुख-दर्द दे आफात[1] ले।।
कलयुग नहीं, करजुग है ये यॉं दिन को दे और रात ले।
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।।

× × ×

कॉंटा किसी के मत लगा गर मिस्ले-गुल फूला है तू।
वह तेरे हक़ में ज़हर है किस बात पर फूला है तू।।
मत आग में डाल और को फिर घास का पूला है तू।
सुन रख यह नुकता बेख़बर किस बात पर फूला है तू।।
कलयुग नहीं, करजुग है ये यॉं दिन को दे और रात ले।
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।।

× × ×

शोखी शरारत मक्र फन सबका विसेखा है यहॉं।
जो जो दिखाया और को वो आप देखा है यहॉं।।
खोटी खरी जो कुछ कि है तिसका परेखा है यहॉं।
जौ जौ पड़ा तुलता है दिल तिल-तिल का लेखा है यहॉं।।
कलजुग नहीं, करजुग है ये यॉं दिन को दे और रात ले।
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।।

× × ×

### बॉंसरी

मोहन की बॉंसरी के मैं क्या क्या कहूँ जतन।
लय इसकी मन की मोहनी धुन इसकी चित हरन।।
इस बॉंसरी का आन के जिसका हुआ बचन।
क्या जल-पवन 'नज़ीर' पखेरू व क्या हिरन।।

---

१. आफतें।

सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजायी किशन कन्हैया ने बाँसरी।।
जब मुरलीधर ने मुरली को अपनी अधर धरी।
क्या-क्या परेम मीत भरी इसमें धुन भरी।।
लय इसमें राधे राधे की हरदम भरी खरी।
लहरायी धुन जो उसकी इधर और उधर जरी।।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजायी किशन कन्हैया ने बाँसरी।।
जिस आन कान्ह जी को वो बन्सी बजावनी।
जिस कान में वो आवनी वाँ सुध भुलावनी।।
हर मन की होके मोहनी और चित लुभावनी।
निकली जहाँ धुन उसकी वह मीठी लुभावनी।।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजायी किशन कन्हैया ने बाँसरी।।



# हिन्दी पर फ़ारसी का क्या प्रभाव पड़ा ?

फ़ारसी का हिन्दी पर जो सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा और जिससे एक नयी भाषा दो संस्कृतियों और दो भाषाओं के मेल से बन गयी, उसकी चर्चा हो चुकी। यहाँ अब यह देखना है कि हिन्दी के नागरी रूप पर फ़ारसी का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थात् उर्दू के द्वारा क्या प्रभाव पड़ा। किसी भाषा पर अन्य भाषा का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है। एक तो जब भाषाएँ परस्पर के संसर्ग में आती हैं, तब एक के शब्द दूसरी में कभी भाव समझाने, कभी अनुकरण या नकल करने और कभी मेल बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं, और दूसरे जब किसी भाषा का राजनीतिक दृष्टि से प्राधान्य होता है, तब उस भाषा के बोलनेवालों की रीति-नीति, चाल-ढाल, पहनावे आदि का अनुकरण अधीन जाति करने लगती है, जिससे उसकी संस्कृति के अनेक शब्द पराधीनों की भाषा में आ जाते हैं। तुर्की भाषा का बाज़ार शब्द संसारव्यापी हो रहा है। उसका प्रयोग हिन्दी में जैसे होता है, वैसे ही अंग्रेज़ी में भी होता है, यद्यपि हमारे यहाँ हाट और अंग्रेज़ी में मार्केट शब्द उसके लिए हैं। परन्तु फ़ारसी का दुकान या दूकान शब्द जो हिन्दी में चल रहा है, उसके बदले का हिन्दी शब्द नहीं है। संस्कृत में विपणि वा आपण और पंजाबी में हट्टी कहते हैं। जो शब्द हिन्दी में था, उसे दूकान ने मैदान से भगा दिया। पोर्तुगीज लोगों का शासन और उधम बम्बई पर कुछ समय तक रहा, पर इतने ही अल्प समय में चाबी, फालतू, गिरजा, आलू, पाउ (रोटी) जैसे अनेक शब्द बम्बई की भाषाओं को ही नहीं, हिन्दी को भी वे दे गये। अंग्रेज़ भी डेढ़ सौ वर्ष से इस देश पर राज्य कर रहे थे। इनके भी बहुत-से शब्द जब हमने ले लिये, तब मुसलमानों का राज तो यहाँ सैकड़ों साल रहा। उनकी भाषाओं के शब्द यदि हमने ले लिये और उनके आचार-व्यवहार की बातें सीखीं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

अब देखना चाहिए कि हिन्दी ने फ़ारसी से क्या लिया। जो भाषा जितनी ही अधिक दूसरी भाषा के संसर्ग में रहती है, वह उतने ही अधिक उससे शब्द आदि लेती है। इस कारण हिन्दी ने फ़ारसी से वस्त्रालंकारों, भोज्यपदार्थों तथा नित्य के व्यवहार में आनेवाली हजारों वस्तुओं के नाम लिये तथा ऐसी बहुत-सी चीज़ों के नाम भी लिये, जिन्हें या तो हम जानते ही न थे और यदि जानते थे, तो उन नामों को छोड़ नये नामों का व्यवहार करने लगे। ये शब्द या तो फ़ारसी ने अपने पास से हमें दिये या अरब और तुर्किस्तान से लाकर। अदालती शब्द तो सभी अरबी के हैं और अदालत आप अरबी का शब्द है, यद्यपि हम लोग आज-कल इसके लिए न्यायालय, विचारालय, कोर्ट आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। धर्माधिकरण, विनिश्चयालय-जैसे शब्दों का प्रयोग न होता है और न इसके समझनेवाले ही अधिक हैं। मुद्दई-मुद्दाअलेह अरबी के शब्द हैं। इनके बदले वादी-प्रतिवादी का व्यवहार कहीं-कहीं होता है, परन्तु संस्कृत के टकसाली शब्दों-अर्थी प्रत्यर्थी को लोग नहीं जानते।

चन्दा, जिसका पर्यायवाचक 'बरार' शब्द है और उसी अर्थ में प्रयुक्त भी होता है, फ़ारसी का समझा जाता है, परन्तु वह पालि के छन्दक और संस्कृत के छन्दस्य से बना है।

अब देखिये, हमने कैसे-कैसे शब्द फ़ारसी से लिया। वस्त्रों में जामा और नीमा, बग़लबन्दी और मिर्ज़ई। जामा अँगरखे से ज्यादा लम्बा होता था, जिसके पहनने से सिर और पैर को छोड़ सारा बदन ढक जाता था। इसका घेरा बहुत अधिक होता था और बनाने में एक थान लगता था। शाही दरबार में हिन्दू-मुसलमान दोनों जामा पहनकर जाते थे। पीछे ब्याह-शादी में नौशे या दूल्हे को जामा पहनाने का रिवाज़ चल गया और उसके घरवाले बाप-दादे भी जामा पहन-पहनकर बरातों में जाने लगे। अब बरातियों का जामा तो नहीं रहा, पर दूल्हे का बाकी है। वह भी अगले दस साल में हवा हो जायगा और उसकी जगह कोट बैठ जायगा। जामे के नीचे जो कपड़ा underwear पहना जाता था, उसे नीमा[१] कहते थे। नीमा तो अब बिलकुल उठ ही गया है। बग़लबन्दी जिसमें बगलों के नीचे बन्द या तनियाँ लगती हैं, जामे का और इसी तरह मिर्ज़ई अँगरखे का संक्षिप्त संस्करण है। ये दोनों कमर से नीचे नहीं रहतीं। मिर्ज़ई 'मिर्ज़ा की' अर्थ में जान पड़ता है। मीरज़ा या मिर्ज़ा तुर्कों का ख़िताब या पदवी है। सम्भव है तुर्क सिपाही जामे की जगह मिर्ज़ई पहनते हों और वह हिन्दुओं में भी चल गगी हो। वस्त्र सम्बन्धी और नाम हैं—लबादा, कबा, चोग़ा, आस्तीन, गरेबान, पायजामा, इज़ारबन्द, अम्मामा, रूमाल, शाल, दोशाला, बुर्क़ा, तकिया, गावतकिया इत्यादि। अलंकारों वा गहनों में गुलूबन्द, हिमायल (हमेल), बाजूबन्द, ज़ंजीर और पायज़ेब आदि तथा मेवे-मिठाइयों में किशमिश, पिस्ता, बादाम, मुनक़्क़ा, शहतूत, बेदाना, खूबानी, अञ्जीर, सेब, बिही, अनार, जलेबी, बालूशाही, हलवा इत्यादि हैं। इनके सिवा सैकड़ों और शब्द ऐसे चल रहे हैं मानो हिन्दी के ही रूप हों। दस्तरख्वान, चपाती, पुलाव, शुरवा (शोरबा), ज़र्दा, क़लिया, कूर्मा, हरीरा (हरेरा), कबाब, अचार, मुरब्बा, गुलाब, बेदमुश्क, तबक़, रकाबी, तश्तरी, चमचा, आबख़ोरा (अमखोरा), किश्ती, हम्माम, कीसा (खीसा), साबुन, शीशी, कहगिल (काहगिल), शीशा, शमादान, फ़ानूस, तँवर (तन्नूर, तन्दूर), मुश्क, नमाज़, रोज़ा, ईद, शबेबरात (शबरात), क़ाज़ी, हुक़्क़ा, नेचा, चिलम, बन्दूक़, तख़्ता, नर्द, गंजीफ़ा, हावनदस्ता (इमामदस्ता), आफ़ताबा, फ़तीलसोज (पीतलसोज), ख़ोरा, खोरवा इत्यादि।

इस समय हिन्दी में ऐसे अनेक अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्द चल रहे हैं, जिनके बदले हिन्दी शब्द चलाना चाहें तो कठिनता से ढूँढ़े मिलें। जैसे दलाल (दल्लाल), फ़र्राश, मजूर (मज़दूर), वकील, बजाज़ (बज्जाज़), जल्लाद, सराफ (सर्राफ), मसख़रा, नसीहत, लिहाफ़, तोशक, चादर, सूरत, शकल, चेहरा, तबीयत, मिज़ाज, बर्फ़, कबूतर, बुलबुल, पर, दावात, स्याही, जुलाब, रुक़्क़ा, ऐनक, चश्मा, सन्दूक़, कुर्सी, तख़्त, लगाम, ज़ीन, तङ्ग, रकाब, पायन्दाज़, नाल, कोतल, वफ़ा, जहाज़, मस्तूल, तहमत, दर्रा, पर्दा, दालान, तहख़ाना, तनख़ाह, मल्लाह, ताज़ा, ग़लत, सही, रसद, रसीद, कारीगर इत्यादि। शतरंज भारतीय आविष्कार है, पर अरब और फ़ारसी का जब से सैर कर आयी

१. नीमा शब्द निम्न वा नीचे के वस्त्र के अर्थ में बौद्धों में प्रयुक्त होता है और इससे पालि से सिद्ध हो सकता है। पर फ़ारसी से नहीं आया है, यह नहीं कह सकते।

है, तब से विदेशी रङ्ग-ढङ्ग में माती है। बादशाह, वजीर (फ़र्ज़ी), रुख़, फील इत्यादि नामों में एक भी हिन्दी वा संस्कृत का शब्द नहीं है।

हिन्दी ने फ़ारसी से संज्ञा शब्द इतने लिये कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। परन्तु इतना किया कि इनके बहुवचन अपने ढङ्ग से बनाये और विभक्ति प्रत्यय अपने लगाये। 'आदमी', 'दरख़्त', 'मेवा' जैसे शब्द लेकर इनमें 'ओं' जोड़कर पहले सामान्य रूप बनाया और फिर अपने विभक्ति प्रत्यय लगाकर इनका प्रयोग किया।

हिन्दी व्याकरण पर फ़ारसी का जो प्रभाव पड़ा वह (१) शब्दों की हिज्जे या वर्णन, (२) वचन, (३) लिंग, (४) अव्यय, (५) संज्ञा, (६) विशेषण, (७) क्रिया और (८) वाक्य रचना में देखा जाता है।

(१) हिन्दी में वर्तमानकालिक क्रियापद पहले आवइ, कहइ, सुनइ, चलइ आदि लिखे जाते थे। तुलसीकृत रामायण में इन्हीं रूपों में देखे भी जाते हैं, परन्तु कालान्तर में सन्धि के नियमानुसार आवै, कहै, सुनै, चलै रूप बने और ये ही प्रचलित हो गये। फ़ारसी अक्षरों में 'ए' और 'ऐ' के लिखने में कोई भेद नहीं हो सकता और उच्चारण करना तो उच्चारण करनेवाले के अधीन है, चाहे आवै कहे या आवे, सुनै कहे या सुने। परन्तु दोनों के अर्थों में जो सूक्ष्म भेद है, वह भी दो भिन्न-भिन्न रूप रखने में सहायक नहीं हुआ और उर्दू के अनुकरण ने हिन्दी में भी दोनों अर्थों में एक ही रूप कर दिया। इसी प्रकार भविष्यकालिक क्रियापदों 'हूँगा' और 'होऊँगा' के अर्थों में जो अन्तर है, उसके रहते हुए भी हम उर्दू की देखा-देखी 'हूँगा' ही लिखते हैं और दोनों का भेद भूल गये हैं।

(२) बहुवचन के लिए एकवचन का प्रयोग उर्दू में होता है। पहले तो उर्दू शाइर भी 'वह' को वाहिद (एकवचन) और 'वे' को जमा (बहुवचन) मानते थे और इनमें भेद किया करते थे, जैसे इस शेर में किया है–

फिरते थे दश्त दश्त दिवाने किधर गये।
वे आशिक़ी के हाय ज़माने किधर गये।।

बाद को बहुवचन में भी 'वह' ही लिखने लग गये।

अँगूठी लाल की करती क़यामत आज गर होती।
जिन्हों की आन पहुँची लड़ मुए वह एक छल्ले पर।।
अब्रुए यार का है सिर में जिन्हों के सौदा।
रक़्स वह लोग किया करते हैं, तलवारों पर।।

अब कई हिन्दी-लेखक भी बहुवचन में भी 'यह' और 'वह' ही लिखते हैं।

(३) लिंग-विचार की दृष्टि से भी फ़ारसी का हिन्दी पर प्रभाव पड़ा है। चर्चा, गोशाला, पाठशाला, माला, साया, घण्टा, आत्मा, अग्नि, पवन, जलवायु इत्यादि के लिंग बदल गये। चर्चा संस्कृत शब्द और स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार गोशाला, पाठशाला, माला, घण्टा शब्द स्त्रीलिंग हैं। परन्तु हिन्दी में बहुधा पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। आत्मा संस्कृत आत्मन् शब्द की प्रथमा के एकवचन का

रूप है, परन्तु रूह अरबी शब्द इसी का अर्थद्योतक स्त्रीलिंग में है, इसीलिए शायद यह भी स्त्रीलिंग बन गया। शेष शब्दों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

इस देश की स्त्रियाँ जब एकवचन का प्रयोग अपने लिये करती हैं, तब तो कहती हैं "मैं आती हूँ", या "आती हूँ" परन्तु जब बहुवचन का करती हैं, तब कहती हैं "हम आते हैं" या "आते हैं।" इस ओर जब हमने कानपुर के सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक 'ज़माना' के सम्पादक अपने मित्र स्व० मुन्शी दयानारायण जी निगम बी० ए० का ध्यान आकर्षित कर कारण पूछा तो उन्होंने लिखा कि यह प्रयोग लखनऊ का ख़ास है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि स्त्रियों की भाषा के अलावा भी लखनऊवालों में यह मार्के की बात है कि एकवचन में शब्द का प्रयोग करेंगे तो उसमें स्त्रीलिंग क्रियापद देंगे और बहुवचन के प्रयोग में पुँल्लिग क्रियापद का व्यवहार करेंगे। जैसे, वे लिखेंगे "इसकी क्या वजह है?" पर जब इसी शब्द का बहुवचन में प्रयोग करेंगे, तब लिखेंगे "इसके क्या वजूह हैं?" 'वजह' शब्द का बहुवचन फ़ारसी में 'वजूह' है। और भी, वे लिखेंगे "बड़ी शर्त यह है" परन्तु जब बहुवचन में लिखेंगे, तब कहेंगे "बड़े शरायत यह हैं।" मुन्शी जी का कहना है कि दिल्लीवाले इसका अनुकरण नहीं करते।

(४) हिन्दी संश्लेषणात्मक भाषा और फ़ारसी विश्लेषणात्मक भाषा है। इसलिए हिन्दी में विभक्ति प्रत्यय शब्द के पीछे लगते हैं और फ़ारसी में शब्द के आगे। आगे लगनेवालों को उपसर्ग ही कहना चाहिए। हिन्दी में जहाँ 'हुक्म से', 'असल में', 'बदले में', या 'जगंह में' लिखते हैं वहाँ उर्दू फ़ारसीवाले बहुक्म, दरअसल, बजाय लिखते हैं। अब हिन्दी में भी ये पद बेरोक-टोक लिखे जाते हैं। फ़ारसी का सम्बन्ध का चिह्न 'ए' 'कस्र' कहलाता है। इसने हिन्दी को विश्लेषणात्मक भाषा का रूप देने में कुछ उठा नहीं रखा और 'नेपाल-महाराज', 'केसरी-सम्पादक' जैसे समस्त पदों के बदले में हिन्दी में 'महाराज नेपाल', 'सम्पादक केसरी' जैसे प्रयोग बेरोक-टोक होने लगे। फ़ारसी के संबंधवाचक चिह्न 'ए' का भी लोप हो गया। 'कम से कम' के लिए तो फ़ारसी न जाननेवाले हिन्दीदाँ भी 'कम अज़ कम' बोलते हैं। अव्यय भी हमने यथेष्ट संख्या में लिये हैं। देखिये-

क्रियाविशेषणों में-जल्द, बिल्कुल, यानी, बेशक, अलबत्ता, ज़रूर-ज़रूर, हर्गिज़, क़रीब-क़रीब, वग़ैरह, फ़ौरन, मसलन, बग़ैर, ख़ुदबख़ुद, ख़ाहमख़ाह, शायद, ख़ैर, राज़ीख़ुशी, वाक़ई।

सम्बन्धवाचक अव्ययों में-क़रीब, बदले, लायक़, मानिन्द, बाबत, ख़ातिर, वास्ते, तरफ़, वाद, विला।

समुच्चयबोधक अव्ययों में-सिवा, सिवाय, अलावा, मगर, लेकिन, या, वर्ना, बावजूद, बशर्ते कि, अगर, अगर्चे, चूँकि, चुनांचे, बल्कि, ताकि, गोया, कि, ब।

विस्मयादिबोधक अव्ययों में-शाबाश, (शादबाश)

(५) हिन्दी में फ़ारसी या इसके द्वारा अरबी आदि से संज्ञा शब्द असंख्य आये और इनका केवल संज्ञा रूप से ही व्यवहार नहीं हुआ, बल्कि 'होना' 'करना' आदि क्रियाएँ लगाकर क्रियापदों

की भाँति ये काम में लाये गये। बात इतनी बनी रही कि शब्द लिये गये, पर व्याकरण हिन्दी का ही रहा। फ़ारसी और अरबी के अनुकरण पर हिन्दी में भी शब्द बनाये गये, जैसे शतरंजबाज़ के ढंग पर हिन्दी में पतंगबाज़, चौपड़बाज़ आदि तथा वफ़ादार के तर्ज़ पर थानादार, रसोईदार, समझदार-जैसे शब्द चले। क़लमदान के ढंग पर ख़ासदान, पानदान और पीकदान बने। कटोरदान बना तो इसी ढंग से, पर अर्थ में भिन्न है। कुतुबख़ाना, मयख़ाना, दीवानख़ाना-जैसे शब्दों के अनुकरण पर जेलख़ाना, पागलख़ाना, मोदीख़ाना, पैखाना-जैसे शब्दों की सृष्टि हुई। बाग़वान, दरबान-जैसे शब्दों की नक़ल पर हाथीवान, बहलवान, गाड़ीवान-जैसे शब्द हिन्दी में चलने लगे। ऐसे ही आईनानुसार, असरकारक, ज़िलाधीश आदि शब्द भी हैं।

हिन्दी ने फ़ारसी से कहावतें भी लीं और कई मुहावरों और कहावतों का तर्जुमा भी कर लिया। कहीं-कहीं तो ये इस ढंग से हमारी भाषा के अंग हो रही हैं, जैसे "गुल खिलता है" का अर्थ स्पष्ट है "फूल खिलता है"; परन्तु जब हम कहते हैं कि "फूल खिलता है" तो इससे रहस्य के उद्घाटन का भाव व्यक्त नहीं होता। इसलिए "गुल खिलना" हमारी भाषा से निकल नहीं सकता। इसी तरह है "बिस्मिल्ला ही ग़लत।" इसका अर्थ है कि पहले से अशुद्धि आरम्भ हुई है, परन्तु यदि हम कहें कि "आरम्भ ही अशुद्ध" तो सुननेवालों को वह आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, जो "बिस्मिल्ला ही ग़लत" सुनने से होता है। हाँ, संस्कृत की कहावत "प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातः" इसका मौज़ूँ तर्जुमा है।

(६) विशेषण के विषय में हिन्दी ने कमाल किया है। यह नहीं कि उसने फ़ारसी के विशेषण नहीं लिये, परन्तु कई अरबी-फ़ारसी के विशेषणों को भी भाषा की प्रकृति के साँचे में ढालकर हिन्दी रूप दे दिया। जैसे सादा, ख़ासा, जुदा और ताज़ा शब्दों के बहुवचन सादे, ख़ासे, जुदे और ताज़े तथा स्त्रीलिंग सादी, ख़ासी, जुदी और ताज़ी बनाये गये। दिल्ली के ख़ोंचेवाले की पुकार है–

कोई कहे बाबू इधर को आओ, देखो चीज़ क्या ख़ासी।
ताज़ी लो तो हैगी याँ पर और वाँ पर है बासी।।

(७) हिन्दी में क्रियाओं की कमी न थी। पर तो भी फ़ारसी के संसर्ग से हिन्दी ने दो तरह से क्रियाएँ बनायीं। एक तो फ़ारसी शब्दों में 'होना', 'करना' आदि क्रियाएँ लगाकर नामद्योतक संयुक्त क्रिया nominal compound verb रूप से और दूसरे, फ़ारसी मसदर में या हासिल मसदर में 'ना' प्रत्यय लगाकर नामधातुवत्। पहले के उदाहरण हैं, क़बूल करना, इनकार करना, सैर करना, इन्तज़ार करना, पशेमान होना, ख़ुश होना, नाराज़ होना, ग़ुस्सा होना, ख़फ़ा होना, तङ्ग होना, दिक़ होना, तमाशा देखना, राह देखना इत्यादि।

अब दूसरे के उदाहरण लीजिये। देखिये, फ़ारसी मसदरों-क्रियाओं से कैसे हिन्दी में नयी क्रियाएँ और कहीं-कहीं उनके नये अर्थ आये हैं।

गुज़िश्तन मसदर से हिन्दी में गुज़रना क्रिया बनी। इसका अर्थ हुआ बीतना। 'गुज़रना' निकलना,

to pass अर्थ में भी आता है। परन्तु हिन्दी में गुज़रना और गुज़र जाना क्रिया का अर्थ मर जाना हो गया; जैसे उन्हें गुज़रे आज कई दिन हो गये। इसी अर्थ पर शाइर ने यह विनोदपूर्ण पद्य कहा है–

मुझे तो रास्ता चलने में भी अब खौफ़ आता है।
सुना है जब से मर जाने को भी कहते हैं गुज़र जांना।

फ़र्मूदन मसदर से हिन्दी क्रिया फ़र्माना बनी। इसका प्रयोग हिन्दी में अधिकतर व्यंग्य में होता है।

क़बूल से क़बूलना, शर्म से शर्माना, बदल से बदलना इत्यादि क्रियाएँ बन गयीं।

बख़शीदन मसदर से बख़्शना क्रिया ही नहीं बनी, परन्तु संस्कृत 'दत्त' और हिन्दी 'दीन' तथा पञ्जाबी 'दित्ता' अर्थ में भी बख़्श शब्द का प्रयोग होने लगा, जैसे माताबख़्श, गुरुबख़्श इत्यादि। आगे चलकर यह 'बख़्श' बक्स या बकस बन गया और हरीबक्स, देवीबक्स आदि नाम इसके योग से बने।

रंज फ़ारसी में दुःखों को कहते हैं, परन्तु बिहार के लोग बहुधा नाराज़ होने या गुस्सा होने के अर्थ में रंज होना बोलते हैं; जैसे, मेरा तो कोई क़सूर नहीं है, आप क्यों रंज होते हैं ?

लर्ज़ीदन मसदर से लर्जना क्रिया बनी, जिसका अर्थ है काँपना। इसका प्रयोग पद्माकर इस प्रकार करते हैं–

पात दिन कीन्हे ऐसी भांत गनबेलिन के
परत न चीन्हे जे वे लर्जत लुञ्ज हैं।
कहै पद्माकर बिसासी या बसन्त के सु
ऐसे उत्पात गात गोपिन के भुञ्ज हैं।
ऊधो यह सूधो सो संदेसो कह दीजो भले
हरि सो हमारे ह्याँ न फूले बन कुञ्ज हैं।
किंसुक, गुलाब, कचनार और अनारन की
डारन पै डोलत अँगारन के पुञ्ज हैं।
चञ्चला चमकैं चहू ओरन ते चाह भरी,
चरज गयीं ते फेरि चरजन लागीं री।
कहै पद्माकर लवङ्गन की लोनी लता
लरज गयीं ते फेरि लरजन लागीं री।
कैसे धरौं धीर बीर त्रिविध समीरै तन
तरज गयीं ते फेरि तर्जन लागीं री।
घुमड़ घमण्ड घटा घन की घनेरी अबै
गरज गयीं ते फेरि गर्जन लागीं री।[१]

१. जगद्विनोद, वसन्त और वर्षा–वर्णन।

अब हम अरबी-फ़ारसी के कुछ ऐसे शब्द बताते हैं, जो हिन्दी में दूध-चीनी की तरह मिल गये हैं, पर जिनके अर्थों में विभिन्नता है। देखिये-

फ़ैलसूफ़ यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ ज्ञानी है, पर उर्दू में दग़ाबाज़ और मक्कार के लिए आता है। अनुमान है कि व्यंग्य में किसी मक्कार को फ़ैलसूफ़ कह दिया होगा, इसलिए यह अर्थ हो गया। जैसे किसी अनाचारी को महात्मा कह देते हैं। हिन्दी में 'उड़ाऊ' अर्थ में भी यह बोला जाता है। जैसे, वह बड़ा फ़ैलसूफ़ है, इसी से तो पैसा नहीं टिकता।

ख़सम अरबी में प्रतिस्पर्द्धी या शत्रु को कहते हैं, पर हिन्दी, उर्दू में वह पति या धनी अर्थ में आता है। जैसे, ओछी पूँजी खसमै खाय। पतित्व अर्थ में हिन्दी कविता में खसमाना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। गङ्ग ने लिखा है-"करत न कबूल खसमाना जू।"

तमाशा और सैर अरबी में केवल गति या चाल के अर्थ में हैं, पर हिन्दी में इनका अर्थ पेखना है। जैसे, चलो बाग की सैर करें। आज वहाँ अच्छा तमाशा है।

ख़ैरात अरबी में नेकियाँ अर्थ देता है। परन्तु हिन्दी, उर्दू में दान अर्थ आता है, जैसे, जब पेट लगा फटने, तब ख़ैरात लगी बँटने।

तकरार अरबी में दोबारा कहने या काम करने को कहते हैं। हिन्दी, उर्दू में बतबढ़ या झगड़े के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

तूफ़ान अरबी शब्द है और इफ़रात या बहुतायत के लिए फ़ारसी में आता है। हिन्दी में अन्धड़ के लिए बोलते हैं। उर्दू में तुहमत या दोष अर्थ में भी आता है। अंग्रेज़ी में इसे टाइफ़ून (typhoon) कहते हैं।

ख़फ़ीफ़ अरबी में हल्की चीज़ को कहते हैं। उर्दू, हिन्दी में शर्मिन्दा या लज्जित अर्थ में भी आता है। जैसे, वह मिले तो सही, देखो कैसे ख़फ़ीफ़ (शर्मिन्दा) करता हूँ।

मसाला (बहुवचन मसलहत) यह मासलाह का संक्षिप्त रूप है। हिन्दी, उर्दू में गरम मसाला, इमारत के सामान या किसी और वस्तु के संग्रह को भी कहते हैं। मसलहत परामर्श अर्थ में आता है।

ख़ातिर अरबी-फ़ारसी में दिल या ख़याल के मौक़े पर बोलते हैं। उर्दू, हिन्दी में "ख़ातिर जमा रखना" निश्चिन्त रहने के लिए तो कहते ही हैं, पर 'ख़ातिर' कहा मानने या आदर-सत्कार करने के लिए भी आता है। जैसे, तुम्हारी ख़ातिर मुझे मंज़ूर है। जायसी और गो० तुलसीदास ने सत्कार करना अर्थ में 'मनुहारि' का प्रयोग किया है।

दस्तूरी जिस अर्थ में बोलते हैं, वह यहीं का है।

रोज़गार फ़ारसी में ज़माने को कहते हैं। हिन्दी में नौकरी या व्यवसाय को कहते हैं। जैसे, 'बिना रोजगार रोजगारी देत घर के लोग।'

जुलूस अरबी की जलस धातु से बना है, जिसका अर्थ बैठना है। इसी से मजलिस, जल्सा और इजलास बने। पर हिन्दी, उर्दू में चलते जल्से का नाम जुलूस हो गया।

रूमाल जिस अर्थ में यहाँ बोलते हैं, वह यहीं निकला है। फ़ारसी में रूपाक या दस्तपाक कहते हैं।

ख़ैरोसलाह साधारण लोग 'खैरसल्लाह' क्षेमकुशल अर्थ में बोलते हैं, मारवाड़ियों में सल्लाह शब्द हाल के अर्थ में भी बोलते हैं। जैसे, के सल्लाह हैं ? उत्तर–चोखी सल्लाह है।

राज़ीख़ुशी आनन्दमंगल या सही–सलामत अर्थ में लिखते–बोलते हैं। जैसे, हम राज़ीख़ुशी पहुँच गये; अपनी राज़ीख़ुशी का समाचार देना। मारवाड़ी लोग केवल 'राजी' बोलते हैं। जैसे, तुम राजी हो ? सब लोग राजी हैं।

कुछ शब्द रूपान्तरित हुए हैं, पर इनके अर्थों में अन्तर नहीं पड़ा। जैसे–

पज़ावा–ईंटों का भट्टा। फ़ारसी पज़ीदन मसदर से पज़ावह बना है।

टाटबाफ़ी तारवाफ़ी का बिगड़ा रूप है। इसका अर्थ ज़रीदार जूता है।

ज़री कोना और तारतल्ला भी ज़रीदार जूता ही कहलाता है।

बकबक झकझक फ़ारसी में ज़कज़क बकबक है।

गुदड़ी–गुजरी शाम के वक़्त के बाज़ार को कहते हैं।

अफ़रातफ़री इफ़रात और तफ़रीत से बना है। असल में निहायत, बहुतायत और निहायत कमी के अर्थ हैं। पर जब हलचल या बेचैनी अर्थ में आता है। जैसे, अफ़रातफ़री पड़ गयी है।

कुलाँच या कुलाच तुर्की भाषा में दोनों हाथों के बीच की जगह को कहते हैं। इसलिए यह कपड़ा नापने का गज है। यहाँ हिरन, खरगोश वगैरह जानवरों के दौड़ने को कुलाँच भरना कहते हैं।

वहशी को हमने देखा उस आहू[1] निगाह से।<br>
जंगल में भर रहा था कुलाँचें हिरन के साथ।। (ज़ौक़)

मुर्ग़ा फ़ारसी में मुर्ग़ केवल पक्षी है। हिन्दी में मुर्ग़ा कुक्कुट को कहते हैं और मुर्ग़ी इसकी मादा है। मुर्ग़ों की लड़ाई होती है और बड़े शौक से लोग इसे देखते हैं। मुर्ग़बाज़ी एक व्यसन है।

चिक–चिक या चिग तुर्की भाषा में बारीक पर्दे को कहते हैं। यहाँ चिलमन को चिक कहते हैं।

कत्ता तुर्की में बड़े को कहते हैं। यहाँ मोटे को कहते हैं। हट्टाकट्टा बोलने का मुहावरा है।

नज़र दृष्टि अर्थ में आता है। जैसे–

सब कुछ इसी में है, पर चाहिए नज़र (नज़ीर)

नज़र आना = दिखना। जैसे–

भाँग जब चढ़ती है, क्या ही मज़ा दिखाती है।<br>
मक्खियाँ उड़ती हैं और ईंट नज़र आती है।।<br>
हाथी–सा ज्वान भुनगा नजर आवे।

---

१. हिरन।

नज़र लगना, कुदृष्टि लगना है।
नज़र, नज़राना भेंट को भी कहते हैं।।

ख़त चिट्ठी के अर्थ में आता है। जैसे, ख़त-किताबत। (चिट्ठी-चपाती) बन्द है। दाढ़ी अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। जैसे, ख़त बनवा लो।

सफाई उड़ गयी चेहरे की जब ख़त का निकाल आया।
कहाँ रहती है वह क़ीमत कि जब चीनी में बाल आया।।

नशा मादकता को कहते हैं।
मज़ा आनन्द है।

ज़बानी चिट्ठी लिखने के साथ चिट्ठी ले जानेवाले से कुछ ज़बानी भी कहलाने की चाल थी। फ़ारसी न जाननेवाले इसे 'मुँह ज़बानी' भी कहते हैं। उसका हिन्दी नाम मुखाग्र या मुखागर है।

तुलसीदास जी ने लंका काण्ड में लिखा है—"कहेउ मुखागर मूढ़ सुन।"

सानी अरबी शब्द है, जिसका अर्थ द्वितीय है। अद्वितीय अर्थ में लासानी बोलते हैं। सीतल कवि ने सानी शब्द का भी प्रयोग किया है। जैसे—

बरनन करने को क्या बरनूँ बरनूँगा जेती बानी है।
ग्रह तीन उच्च के पड़े हुए जानी यह यूसुफ़ सानी है।

सानी शब्द जो हिन्दी का है, उसका अर्थ मिला हुआ चारा है, जैसे गाय की सानी।

निवाज़िश फ़ारसी में कृपा और निवाज़ कृपालु को कहते हैं। तुलसीदास आदि ने 'ग़रीबनेवाज' शब्द का प्रयोग किया है। पर किसी-किसी ने नेवाजना क्रिया भी बना ली है। जैसे,

द्वार धनी के पड़ि रहैं धका धनी के खाय।
कबहूँ धनी नेवाजही जो दर छाँड़ि न जाय।।

जाय ज़रूर जाज़रूर या पायख़ाना हिन्दी में कहते हैं। एक कवि ने किसी अनुदार धनी को टटोलकर जब मूज़ी पाया, तब एक कवित्त बनाया, जिसका अन्तिम चरण है—"आये ते दुवारे छोट ना जान्यो तुम, लागत ज़रूर तब जाज़रूर जाइत है।"

"ऐन निवाजिश है" उर्दू में आम तौर से बोलते हैं। बहुत-से अरबी-फ़ारसी के शब्दों की प्रकृति के अनुकूल हिन्दुस्तान का जलवायु न हुआ, इसलिए वे पिछले पैरों लौट गये। नवाब बादशाहों ने हिन्दुस्तान में कितने ही हिन्दी और फ़ारसी शब्दों का संस्कार किया और किसी का नया नाम रखा। घोड़े का रंग जिसे हिन्दुस्तान में सुरंग कहते हैं, फ़ारसी में कुरंग कहलाता है। पर हिन्दी में 'कु' का अर्थ बुरा है, इसलिए अकबर ने इसका नाम सुरंग रखा। घोड़े की आँखों पर जो अँधेरी बाँधी जाती है, उसका नाम 'उजियाली' रखा। भंगी को हलालख़ोर का ख़िताब भी इसी बादशाह ने बख़्शा है।

इसी तरह जहाँगीर ने शराब का नाम रामरङ्गी और मुहम्मदशाह ने संगतरह का नाम रंगतरह और बुलबुल का गुलदुम रखा। हार (हरण करना) असगुन समझकर उसका नाम फुलमाल रखा गया।

शाह आलम ने सुरख़ाब को गुलसिर्रा कहा, परन्तु इसका प्रचार नहीं हुआ। सुरख़ाब चकवे का नाम है। सुरख़ाब का पर खोंसना या लगाना बड़ी योग्यता का चिह्न समझा जाता है।

इसी प्रकार लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ ने मलाई का नाम बालाई रखा, परन्तु दिल्ली की ओर यह प्रचलित नहीं हुआ।

किसी भाषा से शब्द ले लेने की चाल तो संसार भर में है, पर मुहावरे लेने की नहीं है। हिन्दी ने इस विषय में यह नियम भी तोड़ दिया है और उर्दू शाइरों ने तो मुहावरों का तर्जुमा कर लिया है।

आबशुदन पानी होना फ़ारसी का मुहावरा है। हिन्दी में बोलते हैं, वह पानी पानी हो गया।

आग दोजख की भी हो जायगी पानी पानी।
जब यह आसी[1] अर्के शरम में तर जायँगे।। (ज़ौक़)

हर्फ़ आमदन लाञ्छन लगना और दिल ख़ून शुदन दिल खून होना।

हर्फ़ आये मुझपे देखिये किसके किसके नाम से।
इस दर्द से अफ़ीक़ का[2] दिल ख़ूने यमन में है।

पैमाना पुरकर्दन मार डालना।

साक़ी चमन में छोड़ के मुझको किधर चला।
पैमाना मेरी उम्र का ज़ालिम तू भर चला।।

अज़ जामा बिरूँ शुदन जामे से बाहर होना।

निकला पड़े है जामे से कुछ इन दिनों रक़ीब[3]
थोड़े ही दम दिलासे में इतना अफर चला।। (सौदा)

बे आब मोज़ा कशीदन बिना पानी मोज़े उतारना। पानी हो तो मोज़े उतारना चाहिए। अकारण क्रुद्ध होने को कहते हैं।

दिल दादन दिल देना, आसक्त होना।

दिल देके जान पै अपनी बुरी बनी।
शीरीं कलामी आपकी मीठी छुरी बनी।। (ज़फ़र)

अज़जान गुज़श्तन जान पर खेल जाना।

वहाँ जाये वही जो जान से जाये गुज़र पहले। (ज़फ़र)

ज़मीन आस्मान के क़ुलाबे मिलाना आकाश-पाताल एक करना।

---

१. पापी।

२. संयमी, परहेज़गार।

३. यार या आशिक।

क़ुलाबे आस्माँ व ज़मीं के न तू मिला।
उस बुत से कोई मिलने की नासह बता सलाह।। (ज़ौक़)

बाज़ आना छोड़ बैठना या हाथ उठा लेना।

मैं बाज आयी दिल के लगाने से।

बलि-बलि आयी बाज मौन याही ते ठान्यो। (गिरिधर)

(८) हिन्दी वाक्य-रचना का साधारण नियम है कि वाक्य में पहले कर्त्ता, फिर क्रिया और अन्त में कर्म रहे और यदि अन्य कारक हों, तो बीच में रखे जायँ। परन्तु फ़ारसी में यह बात नहीं है और फ़ारसी ढङ्ग के वाक्यों की हिन्दी में भरमार हो रही है। उदाहरणार्थ-(१) न सिर्फ़ आप आवें, बल्कि अपने दोस्तों को भी लावें। (२) बावज़ूद इसके कि मैं था, मुझे इत्तिला न दी गयी। यही बात 'करीमुल्लुगात' में देखी जाती है, जहाँ मुहम्मद की बेटी के बदली 'बेटी मुहम्मद की' लिखा मिलता है। इस प्रकार के वाक्यों का कुछ कारण है और वह यह कि पहले-पहल मुसलमानों ने ही हिन्दी गद्य की रचना की और उनकी लेखन-शैली वा वाक्य-रचना प्रणाली फ़ारसी ढङ्ग की थी। उनका ही अनुकरण अन्य लेखकों ने किया और इस प्रकार फ़ारसी ढङ्ग की हिन्दी की नींव पड़ी। सैयद इनशाअल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' की भूमिका में लिखा है-

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने उस बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया……।"

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इसी भाषा का अनुकरण किया और लिखा-

"कुछ बयान अपने खान्दान का और कारण इस ग्रन्थ के छपने का।"

राजा साहब तो हिन्दुस्तानी के हामी थे, इसलिए उन्होंने इस ढंग का वाक्य लिखा, तो क्षन्तव्य है। परन्तु उन्हें क्या कहा जाय, जो हिन्दी के तरफ़दार हैं और ठेकेदार हैं, फिर भी वाक्य वैसा ही लिखते हैं। कई साल पहले प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के लेखक ने अपनी भूमिका में यह वाक्य लिखा है-

"अत्यन्त श्रद्धा और आदर के साथ मैं आभारी हूँ रायबहादुर श्रीयुत् माननीय पण्डित श्यामबिहारी मिश्र, दीवान ओछड़ा राज्य का……।"

निश्चय ही यह वाक्य-रचना हिन्दी की तो कही ही नहीं जा सकती, फिर भी आश्चर्य यह है कि इस अवतरण में अरबी, फ़ारसी के शब्द की गन्ध तक नहीं है।



# उपसंहार

इस विवेचन को समाप्त करने के पहले यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कोई तीन सौ और इनसे भी ज्यादा सालों से उर्दू, हिन्दुस्तानी मुसलमानों की बोलचाल और साहित्य की भाषा रही है, परन्तु हिन्दी ने अपने साहित्यिक जीवन के अभी तक दो सौ वर्ष भी समाप्त नहीं किये। यह सच है कि हिन्दी, उर्दू के पहले से ही बोलचाल की भाषा रही है, परन्तु वह बहुत थोड़े लोगों की बोली थी और उर्दू से उसको बड़ा सहारा मिला। जो भाषा बहुत अधिक लोग बोलते हैं, उसी में परिवर्त्तन भी अधिक होते हैं, इसलिए उर्दू में समय-समय पर शब्दों के रूपों में जो परिवर्त्तन हुए, वे हिन्दी में भी ले लिये गये। जैसे पहले 'सब' सर्वनाम के बहुवचन का सामान्य रूप 'सबों' बनता था। उर्दूवालों ने 'सब' में बहुवचन के लिए 'ओं' लगाने की आवश्यकता नहीं समझी और दोनों वचनों में 'सब' का ही सामान्य रूप में प्रयोग प्रारम्भ किया। अब कोई 'सबों' लिखता है, तो हिन्दीवाले ही उसे गँवार समझते हैं। इसी तरह 'जिन्हों' 'जो' सर्वनाम के बहुवचन का सामान्य रूप था। उर्दू के नामी शाइरों ने भी 'जिन्होंके' 'जिन्होंकी' जैसे पद लिखे हैं। (देखिये पृष्ठ १२९) परन्तु बाद को उर्दू ने उन्हें अशोभन समझकर त्याग दिया और हिन्दी ने भी उसका अनुकरण किया। अब वह केवल तीसरी विभक्ति के बहुवचन के सामान्य रूप में दिखायी देता है। यही हाल 'जो' शब्द के बहुवचन के सामान्य रूप 'जिन' का है। दूसरी से पाँचवीं विभक्ति तक तथा सम्बन्धवाचक प्रत्यय 'का' के पहले 'जिन' सामान्य रूप होता था। पर अब तीसरी विभक्ति के बहुवचन को छोड़ सर्वत्र 'जिन' सामान्य रूप माना जाता है, परन्तु तीसरी विभक्ति में 'जिन्हों' ही सामान्य रूप होता है। पहले उर्दू शाइरों ने तीसरी विभक्ति में 'जिनने' लिखा है, जैसे "जिनने देखे तेरे लबे शीरीं, नहिं उनकी निगाह शकर की तरफ़।" परन्तु अब तो राजपूताने और मध्यभारत के बाहर इन प्रयोगों के बोलनेवाले हिन्दी में भी नहीं मिलते, उर्दू का तो कहना ही क्या है ?

'से' के बदले 'सों' वली ने ही लिखा है। 'तलक' सम्बन्ध-वाचक अव्यय का प्रयोग 'तक' के लिए होता था; 'आकर' के लिए 'आनकर' लिखा जाता था। और तो क्या, शम्सुल-उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसेन साहब 'आज़ाद' मरहूम ने भी लिखा है–

क़िस्मत में जो लिखा था सो देखा है अब तलक।
और आगे देखिये अभी क्या क्या हैं देखते।।

'आता है', 'करता था' आदि धातु रूपों का प्रयोग उर्दू के लेखकों की कृपा से हो रहा है। पहले 'आये है', 'करै था' प्रयोग प्रचलित थे। मीर ने भी लिखा है–

नामा जो वहाँ से आये है सो तीर में बँधा।
क्या दीजिये जवाब अजल के पयाम का।।

सौदा ने लिखा है–

क्या इसको गोश करे था जहाँ अहले कमाल।
यह सङ्गरेज़ हुआ हुरे अदन मुझसे।।

आजकल 'सो' के बदले हिन्दीवाले बहुधा 'वह' ही लिखते हैं।

उर्दू शाइरों और लेखकों ने भाषा में जो तराश–ख़राश की है, उससे उसमें बहुत सुघड़पन आ गया है। इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। साधारण शब्दों में लिखी हुई उर्दू कविता कैसे चित्त को आकर्षित करती है, परन्तु वे ही शब्द हिन्दी कविता को क्यों मनमोहिनी नहीं बनाते, यह क्या विचारणीय नहीं है ? अवश्य ही पहले से अब हिन्दी कविता में भी अधिक सजीवता देखी जाती है, तथापि अब भी उसमें कसर है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि जिस भाषा में उर्दू की कविता होती है, वह कवि के नित्य व्यवहार की भाषा है, परन्तु हिन्दी कवि अपने घर में और कभी–कभी बाहर भी जो भाषा बोलता है, वह वर्तमान कविता की भाषा अर्थात् हिन्दी–खरी बोली से भिन्न होती है। यही कारण है कि सदल मिश्र जी के 'नासिकेतोपाख्यान' और लल्लूलाल जी के 'प्रेमसागर' की भाषा सैयद इनशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा का मुक़ाबिला नहीं कर सकी।

हिन्दी लेखन–कला के विद्यार्थियों को कुछ उर्दू अवश्य सीखनी चाहिए, क्योंकि इसके बिना उन्हें शब्दों के और अर्थों के परिवर्त्तनों का ज्ञान नहीं हो सकता। मँजी हुई भाषा लिखना और बोलना दो ही तरह से आता है, या तो वह लेखक या वक्ता के नित्य व्यवहार की भाषा हो या लेखक बनने का प्रयासी भाषाविद् गुरुओं की संगत करे। उर्दू के नामी शाइरों में सबके उस्ताद थे। इसके सिवा सुसङ्गत से लाभ उठाने में वे कभी पश्चात्पद नहीं होते थे। दिल्ली और लखनऊ के शाइरों और लेखकों में जो अन्तर है, वह निराधार नहीं है। वे नये रूप, नये अर्थ और नये मुहावरे निकालते हैं और कभी–कभी विपक्षी उन्हें स्वीकार करते हैं। हिन्दी शब्दों के इतिहास का ज्ञान उर्दू शब्दों के इतिहास के जाने बिना नहीं हो सकता।

दूसरा कारण यह है कि हिन्दी कविता में आजकल हिन्दीपन का अभाव रहता है और वह संस्कृत के अप्रचलित और कहीं–कहीं अशुद्ध शब्दों के बोझ से बेतरह दबी दिखायी देती है।

●

# सहायक पुस्तकों की नामावली


हेमचन्द्र सूरि–प्राकृताष्टाध्यायी (बाम्बे संस्कृत सीरीज सन् १९०० का संस्करण)

पद्मसिंह शर्मा–हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

गो० तुलसीदास–रामचरितमानस (निर्णयसागर का संस्करण)

रामनरेश त्रिपाठी–कविताकौमुदी पहली जिल्द

पद्माकर–जगद्विनोद–(नवलकिशोर प्रेस, १९०० का संस्करण)

मुरारीदान कविराजा–जसवन्तभूषण (संवत् १९५४ का संस्करण)

चन्दबरदायी–पृथ्वीराज रासो (नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण)

मीर अम्मन–बाग़ोबहार

अब्दुर्रहीम खानेखानाँ–खेटकौतुकजातकम् (बनारस संस्करण)

जगदीशचन्द्र वाचस्पति–मौलाना रूम और उनका काव्य (संवत् १९८० का संस्करण)

उमरावसिंह कर्णिक- महाकवि अकबर और उनका उर्दू काव्य (सन् १९३० का संस्करण)

राजकिशोर–महाकवि नज़ीर और उनका काव्य (सन् १९२२ का संस्करण)

मौ० मुहम्मद हुसैन आज़ाद–आबेहयातं

–सखुनदाने फ़ारस

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिक–९वाँ संस्करण

दीनानाथ देव–हिन्दुस्तानी ग्रामर

बालमुकुन्द गुप्त–हिन्दी भाषा

मौलाना सुलेमान नदवी–अरब और हिन्द के ताल्लुक़ात इत्यादि इत्यादि।

John Beames—A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages (London Trübner & Co. 1872)